ओमसी

हिमाचल कला - संस्कृति - भाषा अकादमी शिमला - १

tharahkardu.in

सोमसी

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष 6 | जुलाई, 1980 | अंक 3

मुख्य सम्पादक :
अध्यक्ष अकादमी
शिव कुमार उपमन्यु

सम्पादक :
मौलू राम ठाकुर

सहयोगी :
सरोज सांख्यायन

आवरण :
ओम प्रकाश

२३

जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य ।

लेखक के विचारों तथा दिए गए तथ्यों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं ।

प्राप्ति स्थान :

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल,
शिमला-171009

सोमसी जुलाई, 1980

विषयानुक्रमणिका

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय		(i)
2.	हिमाचल प्रदेश की जाति 'चिनाल' में संस्कृत की जीवन्त परम्परा	–डा० डी०डी० शर्मा	1
3.	देव भूमि कुल्लू और मां कुसुम्भा के मन्दिर की मूकता	–श्री ठाकुर दत्त शर्मा 'अलोक'	3
4.	गद्दियों के कुल और निषेध	–डा० मोहन लाल	12
5.	कांगड़ा लोक नाट्य : परम्परा, स्वरूप और सम्भावनाएं	–श्री शम्मी शर्मा	21
6.	बिलासपुरी जनपद तथा विवाह गीत	–श्री जगदीश चन्देल	26
7.	हिमाचल में शाक्त धर्म का विकास	–डा० लालता प्रसाद पाण्डेय	33
8.	सती नरजी	–कुमारी जया	43
9.	जसवां क्षेत्र में दुर्गा पूजा–जगराता या जागा	–सुश्री स्वर्ण 'प्रेम'	49
10.	खश या खश्या	–श्री पी०एन० सेमवाल	64
11.	कांगड़ा के संस्कार गीतों में नारी	–श्री रमेश शर्मा 'अरुण'	71
12.	कमलाह तथा अनन्तपुर गढ़	–डा० कांशी राम 'आत्रेय'	78
13.	अमानवीय आत्माएं	–श्रीमती उमा शर्मा	85
14.	अकादमी की गतिविधियां		89
15	पुस्तक समीक्षा	–अश्विनी अवस्थी	94
16.	साहित्यकारों की सम्मान योजना के नियम-उप नियम		95
17.	साहित्यकार–कलाकार विवरणिका		99

सम्पादकीय

आर्य लोगों की देव भावना का सुविकसित स्वरूप वैदिक संहिता-ग्रन्थों में मिलता है। आर्यों में प्रकृति की दिव्य सत्ताओं की प्रतिष्ठा रही है। इन सत्ताओं के दो रूप रहे हैं—व्यावहारिक और अध्यात्मिक। व्यावहारिक रूप में उनके शारीरिक गुणों का प्रतिपादन होता है। सूर्य के प्रकाश और उष्णता के चमत्कार के आगे नतमस्तक होना स्वाभाविक है। सूर्य के इस प्रत्यक्ष एवं बाह्य या शारीरिक गुण के पीछे निस्सन्देह ही परोक्ष तथा आन्तरिक या अध्यात्मिक गुण भी अवश्य होगा। ऐसे अध्यात्मिक गुण के वरदान के लिए सूर्य की पूजा बड़ी स्वाभाविक है। यह अपने लौकिक अथवा व्यावहारिक रूप में जगत को प्रकाश देता है और उसने अध्यात्मिक स्वरूप के द्वारा मानव की बुद्धि को प्रस्फुटित करता है। यही सूर्य की दिव्य शक्ति है। इसी दिव्यता से देव का स्वरूप बना है। विशिष्ट गुणों या दिव्यता से सम्पन्न विभिन्न सत्ताओं को देवताओं की प्रतिष्ठा मिली है।

वैदिक धारणा के अनुसार देवता अतिशय समर्थ हैं। वे हर प्रकार का कार्य करने के योग्य है। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए देवताओं की सहायता लेनी चाहिए। देवता पद-पद पर मानव की सुरक्षा और सहायता के लिए अग्रसर होते हैं। उनके बारे में कहा गया है कि 'विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा:'। वे अच्छी वस्तुओं की रक्षा करते हैं। परिश्रमी और साहसी लोगों की सहायता करते हैं। देवता पापियों को दण्ड देते हैं। परन्तु यदि मनुष्य पाप करने के बाद सच्चे दिल से प्रायश्चित करता है और भविष्य में सदाचार का व्रत लेता है तो देवताओं में उसे पाप से मुक्त करने का सामर्थ्य भी है। वेद में यह प्रार्थना की गई है :

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चक्रमो वयम्
यूयं नः तस्मात् मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः।

'हे देवताओ, तुम सब आपस में प्रेम पूर्वक व्यवहार करते हो। ऐसी कृपा करो कि जो पाप हमने सज्ञान या अज्ञान अवस्था में किए हैं, उनसे हम मुक्त हो सकें।' ऋग्वेद के एक सन्दर्भ के अनुसार देवताओं की संख्या ३३ बताई गई है :

पत्नी वतस्त्रिंशतं त्रीशंच देवाननुष्वधमावह मादयस्व।

परन्तु अनेक अन्य मन्त्रों के अनुसार इनकी संख्या ९९ या ३३३९ भी बनती है। इनमें तीन देवता प्रमुख थे—पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र तथा स्वर्ग या आकाश में सूर्य। अन्य सभी देवताओं को गौण मान कर इन तीनों के अधीन ही प्रदर्शित किया जाता है। वैदिक संहिताओं के कुछ अन्य सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि अश्विन, द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, विष्णु,

आदित्य, ऊषा, चन्द्र आदि ९९ आकाश के देवता हैं। इन्द्र, अपानपात्, वायु रूद्र, मरुत, आप: पर्जन्य आदि ९९ वायु के देवता हैं और अग्नि, साम, नदी, पृथ्वी, समुद्र आदि ९९ पृथ्वी के देवता हैं।

वैदिक काल में जो स्थान अग्नि, इन्द्र और सूर्य को प्राप्त था वही स्थान पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को प्राप्त हैं। यह तीनों क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार की शक्ति रखते हैं।

हिमाचल प्रदेश को देव भूमि कहा गया है। यहां हर गांव का अपना देवता है, हर देवता का अपना मन्दिर है और हर मन्दिर की अपनी शोभा है। प्रत्येक देवता की अपनी प्रजा है जो एक सुव्यवस्थित पद्धति से न केवल देवता की पूजा करती है वरन् अपने दैनिक जीवन की सामाजिक व्यवस्था को भी कठोरता से अपनाती है। यहां त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मन्दिर हैं। वहां देश के अन्य भागों की तरह देव मूर्तियां स्थापित हैं। उनकी वैदिक रीति से पूजा होती है। परन्तु असल महत्व उन देवताओं का है जिन की अष्ट धातु, कांस्य या प्रस्तर की मूर्तियां नहीं हैं, वरन् सोने-चांदी के छोटे मुखावरण हैं, जिन्हें लोग 'मोहरें' कहते हैं। मोहरों को वे काष्ठ के बने रथों में रंग-बिरंगे वस्त्रों, हार-शृंगारों से सुसज्जित करते हैं और उन्हें कन्धे या सिर पर उठा कर नचाते हैं। उनका देवता उन पर प्रसन्न होता है तो मुंह मांगा दान देता है। क्रुद्ध होता है तो महामारी, बाढ़, तूफान, भूचाल आदि प्रकोपों से उन्हें हानि पहुंचाता है।

अकादमी ने **'हिमाचल ज्ञानकोश'** योजना के अधीन प्रदेश के इतिहास, भूगोल, जन-जीवन, लोक-साहित्य आदि से सम्बन्धित सामग्री को सात खण्डों में प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इसका प्रथम खण्ड **'देव खण्ड'** के नाम से इस समय संग्रहाधीन है। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि कृपया अपने क्षेत्र में से सम्बन्धित देवताओं का विवरण अकादमी कार्यालय को भेज कर इस कार्य के सफल आयोजन में सहयोग दें।

—एम० आर० ठाकुर

हिमाचल प्रदेश की जाति 'चिनाल' में
संस्कृत की जीवन्त परम्परा

–डा० डी० डी० शर्मा

संस्कृत के सम्बन्ध में प्रायः यह कह दिया जाता है कि यह कभी भी इस देश के लोगों की बोलचाल की भाषा नहीं रही तथा इसके पढ़ने एवं बोलने का अधिकार केवल द्विजातियों तक ही सीमित था, अद्विजों तथा स्त्रियों में इस पवित्र भाषा का व्यवहार वर्जित था। किन्तु लाहौल के एक हरिजन सम्प्रदाय में प्रचलित व्यवहारिक भाषा ने, जोकि संस्कृत के अति निकट ही नहीं अपितु उसके परम्परा प्राप्त रूप का प्रतिनिधित्व करती है, विद्वानों की उपर्युक्त धारणा को असत्य कर दिया है।

चिनाल नाम से जानी जाने वाली यह हरिजन जाति मुख्यतः लाहौल की पट्टन घाटी में परिसीमित है और अज्ञात काल से अपनी भाषाई एवं सांस्कृतिक परम्परा को जीवित रखे हुए हैं। अपने चारों ओर से भिन्न जातीय, भिन्न भाषीय जन समुदायों से घिरा होने पर भी यह संस्कृत भाषी आर्य कबीला अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाए रहा यह स्वयं में आश्चर्य में डालने वाली बात है। इस समय भी इस सम्प्रदाय के लगभग पचास घर (टोल) हैं जो कि कुछ काल पूर्व तक एक ही गांव तक सीमित थे, किन्तु अब कुछ परिवार अन्य गांवों में भी जा बसे हैं। सामाजिक वर्गीकरण के स्तर पर इन लोगों को हरिजनों के समकक्ष समझा जाता है, पर ये अपने को अन्य हरिजन वर्गों की अपेक्षा उच्चतर समझते हैं। बौद्ध धर्मावलम्बी स्वामियों के आश्रम में रहने वाला यह आर्य धर्मावलम्बी वर्ग अपनी सामाजिक एवं धार्मिक विवशताओं के कारण अपने आहार-व्यवहार में केवल अपनी जाति के लोगों तक ही परिसीमित है। इनके पूर्वज कौन थे, कब और कहां से ये लोग इस घाटी में आकर बसे इसके सम्बन्ध में इन लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं। शायद सामाजिक सम्मान तथा शिक्षा के अभाव में इसे स्मरण रखना सम्भव भी न था। किन्तु इनकी आकृति, आचार-व्यवहार तथा भाषा बोली सभी दृष्टियों से इनका सम्बन्ध प्राचीन आर्य जाति के साथ निर्विवाद रूप से दिखाई देता है। इनके धार्मिक तथा सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के विश्लेषण से भी इसी की पुष्टि होती है।

इन लोगों के सम्बन्ध में जो सब से अधिक आश्चर्य में डालने वाली बात है वह यह है कि इनकी भाषा अब भी अपने प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, संस्कृत के रूप एवं उसकी रचना पद्धति को सुरक्षित रखे हुए हैं। इसमें संस्कृत की शब्दावली न केवल अपने अविकृत रूप में सुरक्षित हैं अपितु उसका सम्पूर्ण व्याकरणिक ढांचा भी अपने मूल रूप में सुरक्षित है। शब्द रूपों के तीनों वचनों तथा सातों कारकों के तथा क्रिया रूपों के सभी बचनों, पुरुषों, कालों तथा वृत्तियों के विभक्ति

प्रत्यय, उसी प्रकार अपने संश्लिष्ट रूपों में प्रयुक्त होते हैं जैसे कि संस्कृत में हुआ करते हैं। धातु मूलों में अस्, भू, गच्छ, नी, वह, ताड् त्रुट्, आ+नी, वि+क्री, हिण्ड्, आदि का प्रयोग अपने मूल रूपों एवं अर्थों के साथ सामान्य रूप में प्रचलित हैं। विभिन्न पुरुषों, कालों आदि की अभिव्यक्ति करने वाले ये क्रिया रूप अपने विभक्ति प्रत्ययों से संश्लिष्ट होकर ही प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि अब नवीन पीढ़ी के वक्ताओं में कहीं कहीं आधुनिक आर्य भाषाओं के समकक्ष संयुक्त क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाने लगा है। यही स्थिति संज्ञा शब्द रूपों तथा सार्वनामिक रूपों की भी है। निपातों एवं उपसर्गों का प्रयोग अब भी उन्हीं रूपों एवं अर्थों में किया जा रहा है जिन रूपों में कि संस्कृत भाषा में पाया जाता है। निषेधार्थक निपातों में 'मा' तथा 'न' के प्रयोगों की स्पष्टता अपने मूल रूप में बनी हुई है। संयोजकों में 'च' (और) का प्रयोग उसी रूप में बना हुआ है जिस रूप में कि संस्कृत में था। काल सूचक निपात 'हि'=ह्यः (बीता हुआ कल) तथा 'श्व' (आने वाला कल) पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं।

इस बोली के कतिपय सार्वनामिक तथा कतिपय संज्ञा रूपों में प्राकृत भाषाओं की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है किन्तु साथ ही व्यंजन संयोगों में समीकरण का अभाव, स्वरान्तर्वर्ती अल्पप्राण व्यजनों के लोप का अभाव, घोष महाप्राण ध्वनियों में स्पर्श तत्व के लोप का अभाव, विभिन्न विभक्ति प्रत्ययों में समरूपता का अभाव आदि ऐसे तत्व हैं जो कि स्पष्टतः संकेत करते हैं कि यह प्राचीन आर्य भाषा भाषी वर्ग उस काल में इस क्षेत्र में आ बसा था जब कि भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी और उसका स्थान अभी प्राकृत भाषाओं ने नहीं लिया था। आधुनिक काल में भी, जब कि इन लोगों का सम्पर्क अन्य आधुनिक आर्य भाषा भाषी लोगों के साथ हो रहा है, इनकी नवीन पीढ़ी का शिक्षा एवं समाचार की भाषा के रूप में हिन्दी के साथ सम्पर्क बढ़ रहा है, चिनाल भाषा का संरचनात्मक ढांचा वही है जो कि संस्कृत भाषा का हुआ करता है। संज्ञा शब्दों में विभक्ति प्रत्ययों की संश्लिष्टता तथा क्रिया रूपों में पुरुष, वचन एवं काल बोधक प्रत्ययों के योग के कारण वाक्य रचना में पदों को किसी भी क्रम में रखा जा सकता है, यथा 'शीते बहिराँ मा गच्छ' या 'बहिराँ मा गच्छ शीते' अथवा 'मा गच्छ शीते बहिराँ' (ठण्ड में बाहर मत जाओ)। इसी प्रकार एक अन्य वाक्य है—'मे शुकुल बथुर मूं देहि' (मेरा सफेद कपड़ा मुझे दे दो)। इसे इन रूपों में बोला जा सकता है—'मूं देहि मे शुकुल बथुर' अथवा 'देहि मूं मे शुकुल बथुर' आदि। इसकी वाक्य रचना के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

त्रामेर मां दूधअम्ल भोंदस्=ताम्रस्य भाण्डे दुग्धं अम्लं भवति।
से मे जामात्रा अस्=सः मे जामाता (जामातृ) अस्ति।
हुउँ नगरी गस्तस्=अहं नगरीं गच्छन्+अस्मि।
या मठुस् द्राडतस्=आर्या बटुं ताडयति।
मूं शीते बि प्रसेद आइदिस्=मां शीतेऽपि प्रस्वेद आयाति।
तेसेर रोपेर आँउठी त्रुटि गेई=तस्य रोप्यस्य अंगुष्ठी त्रुटितं गतवती।

रीडर, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
ई-५३, चण्डीगढ़-१४।

देवभूमि कुल्लू और मां कुसुम्भा के मन्दिर की मूकता

–ठाकुर दत्त शर्मा 'आलोक'

ऐसा कौन भावहीन प्राणी होगा जो अपने ईष्ट देव के समक्ष श्रद्धा के दो सुमन अर्पित करके भाव विभोर न हुआ हो। वस्तुतः भाव ही भगवान है। यह भी मान लेना चाहिए कि जहां प्रकृति नटी ने जी खोल प्राकृतिक सौन्दर्य का दान किया हो, ऐसे प्राकृतिक सौन्दर्य की छत्र-छाया में वास कर रहे प्रत्येक जन का मन भावुक न होगा तो किस का होगा। देवभूमि कुल्लू को यह सौन्दर्य युक्त वरदान प्रकृति ने जी खोल कर दिया है। यही कारण है कि यहां के प्रत्येक जन-जीवन का परिचय नितान्त भावुकता पूर्ण है। जिन प्राणियों के हृदय में भावों का समुद्र हिलोरे लेता हो उनकी लहरियां अवश्यमेव विश्वास तट पर टकराती होंगी। यह बात इस प्रकार स्पष्ट है :

देवों न विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृणमये
देवो ही विद्यते भावे तस्मात् भावो ही कारणम्।

मन्दिर की मूकता क्या है ? इसके विषय में कुछ अंकित करने से पहले एक लेखक का यह शाश्वत धर्म होता है कि वह उन लोगों का आभार प्रकट करना अपना धर्म समझे जिनकी सहायता से वह मन्दिर की मूकता के पश्चात् भी, ग्राम देवता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के विषय में कुछ अंकित करने का उत्साह बढ़ा पाता है। इस मन्दिर की गाथा को अंकित करने के लिए अतीत में श्री गोपीचन्द सूबेदार ने जितना दूर किया शायद यह लेखनी उतनी ही दूर, उस अतीत की ऐतिहासिकता का स्वरूप स्पष्ट करने में असमर्थ रही हो। मां का यह मन्दिर जो मूक भाषा में कुछ कहता है, महत्व मन्दिर का नहीं, मन्दिर में स्थापित मां कुसुम्भा की मूर्ति का है जिस के प्रति जनता जनार्धन श्रद्धावान है। दुःख, सुख, प्रसन्नता, अप्रसन्नता, व्याधि, आदि विपत्ति, वर्षा, यात्रा, पर्यटन, भाग्य के क्रिया कलाप यहां तक कि जीवन, मृत्यु तक में भी निज ईष्ट देव की दया और कृपा पर जीवन आश्रित है। इस प्रकार जन-जीवन का पूर्ण समाजकीय जीवन देवताओं के इर्द-गिर्द घूमता है।

माता कसुम्भा का मन्दिर आॅटर सिराज कुल्लू के एक जन-प्रसिद्ध जनपद लुहरी नामक गांव के अति समीप खेखसु नामक स्थान पर निर्मित किया गया है। यहां के लोग इस मन्दिर को 'खेखसुओ देऊरो' के नाम से पुकारते हैं। कहते हैं मां का चमत्कार यहां के लोगों ने प्रत्यक्ष रूप से कई बार निहारा है। जब कभी मन्दिर में कुछ विशेष घटनायें घटने लगती हैं तो कुछ विशेष बात घटित होने का पूरा भय बना रहता है। कभी मन्दिर में जोर का धमाका होता है, कभी शेर दहाड़ने लगता है तो कभी ढोल, दुन्दभी, शंख, शहनाइयां इत्यादि बाजे स्वयंमेव ही बजने लगते हैं। कहते हैं कि माता के किसी भक्त की मृत्यु पर ऐसी घटनायें घटित होते हुए अधिक पाई गई हैं। माता के मन्दिर की कहानी बड़ी विचित्र है। कहते हैं, परशुराम जी के मन में

क्षत्रियों के राज पुरुष रहने के प्रति बड़ा ही क्रोध पैदा हुआ और उन्होंने यह संकल्प किया कि वह क्षत्रियों को संसार से समाप्त कर देंगे। इक्कीस बार तो उन्होंने क्षत्रियों के विनाश के लिए संघर्ष भी किया। शायद कविवर 'तुलसीदास' की रामायण में अंकित यह चौपाई इस बात का स्पष्टीकरण करती है :

बाल ब्रह्मचारी अति कोहि, विश्व विदित क्षत्रियकुल द्रोही।
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हो, विपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।

उपरोक्त चौपाई से यह स्पष्ट है कि परशुराम जी क्षत्रियों के राज-पुरुष होने से रुष्ट हो गये थे। अपनी भुजाओं के बल पर परशुराम जी ने क्षत्रियों को मारने का प्रण किया था। उन्होंने यह निर्णय कर लिया था कि राज्य की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में रहेगी। किन्तु ब्राह्मणों को भी कहीं अभिमान न हो जाये अतः परशुराम ने कहा कि तुम्हें देवी देवताओं की आज्ञा का पालन करना होगा। परशुराम जी कुल्लू की सुरमयी घाटियों की ओर भी बढ़े। कहते हैं कुछ कुल्लू की, कुछ मण्डी को घाटियों को उन्होंने सात स्थानों में जोड़ दिया। यह सात स्थान हैं निर्मण्ड, नीरथ, नग्गर, कात्रो, मयेल, खेखसु, धनाओ। लोक-गीत से इस बात की सत्य पुष्टि होती है :

निरमण्ड बाह्मणु आग्रो कावे स्ताने,
कावे स्ताने बाह्मणु पूछणु लोग्रो,
ग्राज कँणो बाह्मणु ग्राग्रो कारियो ग्राग्रो,
कारियो न बोलणु—
ग्राग्रो तुम्हा बदाणु—
तीदा का बाह्मणु ग्राग्रो खेखसु स्ताने-
खेखसु बाह्मगु पूछणु लाग्रो—
मूं ग्राग्रो बाह्मणु नगर स्ताने,
नगरैं बाह्मणु पूछणु लाग्रो—
तीदा का बाह्मणु ग्राग्रो निरमण्ड स्ताने,
निरमण्ड बाह्मणु पूछणू लाग्रो—

इस लोक-गीत में जो पूरा प्राप्त न हो सका, परशुराम जी के आने की गाथा का वर्णन किया गया है। परशुराम जी सात स्थानों में आकर जनता जनार्धन से यह प्रश्न करते हैं कि यहां कितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शुद्र रहते हैं ? लोक-गीत में इस बात की सत्यता सम्माहित है :

केती शया बीया बाह्मणु वसा ग्रों
केती शया बीया वसा कजर्न लोगा
पांज शया विप्रा बाह्मणु वसाग्रो
होर वसा कजर्न लोगा—
पैरा वसा माईयें देवा सिरमौरी—
सिरै वसा नातड़ी नागा।

परशुराम जी को जन समाज का जब पूर्ण ज्ञान हो गया तो परशुराम जी खेखसु में माता कुसुम्भा के मन्दिर में आये और वहां मां के मन्दिर की स्थापना की।

माता कुसुम्भा की सेवा सात स्थानों में रहने वाले प्रत्येक जन करते थे। ये लोग 'छईवीया' के सम्बोधन में पूरे गिने जाते हैं। आज भी ऐसी ही प्रथा है। उस समाज में भी माता कुसुम्भा का खूब आदर होता था। बाहरी सिराज में माता कुसुम्भा की आरती उस समय में गाई जाने वाली भाषा में आज भी प्रचलित है, किन्तु इस आरती का जो स्वरूप आज है शायद उस समय में वह संस्कृत में प्रचलित था। ऐसा लगता है कि उस समय बाहरी सिराज कुल्लू में संस्कृत भाषा का स्वरूप मिलता है। माता कुसुम्भा की आरती जिसे बाहरी सिराज की नारियां अत्यन्त लय के स्वरों में गाती हैं, इसमें भी संस्कृत शब्दों का समावेश द्रष्टव्य है। आरती इस प्रकार है :

जैं जैं माता कुसुम्ली,
सुमरा तेरा नामो,
छई वियावसा माये बाहमणा
करे तुम्हारली सेवा.........
सेवा जै करा, स्त्रोता पढ़ाये—
आगें गंगा बहाये आ—
धूपैं जैं दीपैं मायैं पूजा करिये—
शंका शब्दा बजाये आ—
कैई सोये माये तेरो वर्णा
पिऊँड़ली डालियैं हाँ जी—
पिऊँड़ली डाली की वर्णा तेरो मायै—
आगे गंगा बहाये आ.........
चौऊ फेरे नगरै—
विप्रा वसाये-आ-आ ....
मांझे वणा रचाये आ—
केती वेले फूली माये
तेरी मालती.........
फूलै पातियैं घनेरे—
आणी कै तुकै चढ़ाया आ.........
दई विया करवा तेरै बाह्मणा—
करै तुम्हारली सेवा आ—
सेवा करे जै......स्त्रोता......
आगै...............
उजड़ो होये तेरो मंड़पा—
चन्द्र सूरजा री जोतै हो जी—

सूरजा की जोतै मंड़पा तेरो मायँ—
धूपा जं दीपँ.........
शंका शब्दा बजाये श्रा.........
पैरा बसा देश्रा—सिरमौरिया—
सिरा बसा नातली नागा हो जी.........
जै जै माता कुसुम्भली.........
सुमरा तेरा नामो .....श्रा...श्रा...
छई वियावसा मायँ बाह्मणा—
करँ तुम्हारली सेवा ....

श्रुति पटल केवल सुन ही तो सकते थे लिखना तो लेखनी का ही कार्य था। यह सब दादो मां के सहयोग से ही सम्भव हो पाया। लेखनी दादी मां श्रीमती तीरथा जी के आदेश पर, जो आरती के कुछ अंशों को लिख पाई है उस आरती का भाव इस प्रकार स्पष्ट है कि हे मां ! तेरा मन्दिर गंगा (सतलुज) के किनारे पर बना है। तेरा सुमिरण हम सब ब्राह्मण एवं सब जातियां श्रद्धा से करते हैं। जैसे कि वर्णनातीत है कि सब श्रद्धालु जन माता कुसुम्भा का सुमिरण बड़े ही स्नेह से करते हैं। जन जीवन का विश्वास मां की दया एवं कृपा पर ही आश्रित है। शुभ-अशुभ, सफलता-असफलता, आधि-व्याधि, दुःख-सुख सभी कुछ माता की दृष्टि पर अबलम्बित है, जन-साधारण का इस में अटूट विश्वास है।

माता कुसुम्भा का यह मन्दिर पाषाण निर्मित तीन भवनों में विभक्त है और प्रत्येक भवन विशेष में माता के सेवकों की प्रतिमायें स्थापित की गई हैं। ये प्रतिमायें नौकर-चाकर के नाम से विख्यात हैं और जन साधारण मां के 'चेले-चांटे' कह कर सम्बोधित करते हैं। माता के एक भवन में नाग की मूर्ति है जो अष्ट धातु को बनी हुई है। माता के मन्दिर के साथ ही माता की सवारी शेर का मन्दिर भी बना है जो कि 'ब्रागदेओ' के नाम से जाना जाता हैं। माता की मूर्ति अष्ट धातु की बनी हुई है और मूर्ति का भार ५० किलोग्राम है। माता के मन्दिर के प्रवेश द्वार के पास एक पीपल का वृक्ष है और इस पीपल वृक्ष के नीचे एक आसन है। यह आसन परशुराम जी का है, कहते हैं कि भगवान परशुराम ने यहां आकर विश्राम किया था। माता के मन्दिर में एक ढोल है और उस ढोल पर पाली भाषा में कुछ उत्कीर्ण किया गया है। माता के मन्दिर में हर मूर्ति विशेष के पास प्रातः सायं पूजा होती है। मन्दिर के भवन में शहतीरों पर भी कुछ लिखा है। माता का यह मन्दिर शिमला से लगभग ८० किलोमीटर दूर लूहरी से समीप खेखंसु नामक स्थान पर बना हुआ है। इस मन्दिर के बनाने में महाराजा बुशैहर, महाराजा कोटखाई, शांगरी, कुमारसैन ने अपना सहयोग दिया है। कोटखाई में अब भी माता की जमीन है। इस प्रकार की भूमि माता के मन्दिर में होने वाले उत्सव विशेष के लिए आय के साधन की स्रोत होती है। माता के मन्दिर के आस-पास जन-बस्ती बहुत कम है। इसका मूल हेतु अज्ञात है। लेकिन जन श्रुति के अनुसार यह बात प्रसिद्ध है कि यहां पर पहले बहुत जन-बस्ती थी। किन्तु बाद में परशुराम जी के प्रकोप के कारण जन-बस्ती समाप्त हो गई थी। इसकी एक मनोरंक कहानी है जो इस प्रकार है—

कहते हैं जन-बस्ती के सब से आखिर में या यूं कहें कि जहां से जन-बस्ती शुरू होती है, वहीं पर एक बूढ़िया का मकान था। यह सारी की सारी ब्राह्मण जन-बस्ती थी। और इन्होंने माता को मानना बन्द कर दिया था। माता के मन्दिर में कोई पूजा नहीं होती थी। इस तिरस्कार के कारण परशुराम जी बड़े क्षोभित हुए और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे सारी की सारी बस्ती को समाप्त कर देंगे। उस बस्ती के साथ एक बहुत बड़ा पहाड़ था। उस पहाड़ से बूढ़िया के लिए 'आहु'–'आहु' करके आवाज आती थी अर्थात् आऊं-आऊं...... और बूढ़िया सोचती थी कि यह कोई आदमी आ रहा है। अतः वह आने से मना कर देती थी क्योंकि उसे बहुत लालच था और वह अच्छा-अच्छा खाना बनाया करती थी, अतः नहीं चाहती थी कि खाने के समय उसके पास कोई आये। अतः आने से मना कर देती और यह 'आहु'–'आहु' की आवाज उसी समय आती जब वह खाना खा रही होती थी। एक दिन उसने सोचा कि चलो आज इसे भी खाना खिला देते हैं। और उसने 'आबै' अर्थात् आ जा कहा और बड़े जोर से पहाड़ टूट पड़ा और सारी जन-बस्ती पहाड़ के नीचे कुचली गई। केवल वही व्यक्ति विशेष बच पाये थे जो माता को मानते थे। अन्त में परशुराम जी ने माता की पूजा के लिए विशेष पुजारी को मनोनीत किया और वह पुजारी माता की नियमित रूप से पूजा किया करता था। जैसा कि वर्णनातीत है कि माता का मन्दिर सतलुज के किनारे पर बना है तथा सतलुज नदी माता के मन्दिर से आधा कि०मी० दूर है। इस माता की पूजा के लिए सतलुज नदी से पानी लाने के लिए मिट्टी के अन्दर ही सोपान-मार्ग है और पुजारी इस सोपान-मार्ग पर स्वच्छ पात्र में पानी लाया करता था। कहते हैं कि इस मार्ग पर वही चल सकता है जिस का हृदय छल रहित हो। आज कल कोई भी पूजारी इस मार्ग पर नहीं चलता। अब लगभग यह मार्ग बन्द हो गया है। कुछ लोगों का मत है कि यह सोपान-मार्ग सोने का बना हुआ है। सत्यता कितनी है यह अज्ञात है। अन्वेषण करने पर यह सब बातें ज्ञात हो सकेंगी।

श्रद्धालु आज भी माता की खूब सेवा करते हैं और अपना श्रद्धा-भाव रखते हैं। यह माता कूषमाण्डा अर्थात् कुसुम्भा के रूप में श्रद्धालुओं द्वारा जानी जाती है। कहते हैं यह गूंगी है, बोल नहीं सकती। जिस व्यक्ति विशेष के माध्यम से यह अपना चमत्कार दिखाती है उसे यहां के लोग 'गुरु' कहते हैं। वह भी संकेतों द्वारा बातें करता है और अपना जीवन-यापन नियमों में रह कर करता है। अपनी पत्नी के सिवाय किसी के हाथ का खाना नहीं खाता। पूर्ण रूप से शुद्ध भोजन खाता है। धोती पहनता है, यज्ञोपवीत धारण करता है, सत्य वाणी का उच्चारण करता है। सर्दी हो या गर्मी चाहे बर्फ क्यों न पड़ी हो, नंगे पांव चलता है। जन साधारण के उत्तर संकेतों में देता है। माता गूंगी है, अतः 'लाटी-जाहरी' नाम से प्रसिद्ध है। भक्त जनों का माता पर अटूट विश्वास है। माता का 'गुर' जो बात कहता है वह सत्य होती है। इन लोगों का माता के प्रति कितना विश्वास है, इस बात की अभिव्यक्ति माता के एक सच्चे भक्त के शब्दों में कर देना उपयुक्त जान पड़ता है। माता के ये भक्त गोपीचन्द जी शर्मा सेवा निवृत सूबेदार हैं। माता के प्रति इनका कितना प्रेम रहा है, इस बात का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है। उनका कहना है :—

"इष्ट देवताओं पर परम्परा से अटूट विश्वास का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार है। मैं नेपाल (चितलांग) में एक घने जंगल में कार्यवश चल रहा था। रात्री के समय एक बड़ा

विकराल और भयंकर भूत सामने आ कर मारने की चेष्टा करने लगा। ईष्ट देवता मां कुसुम्भा का स्मरण करते ही एक सिंह उस पर झपट पड़ा और उसे कहीं का कहीं ले गया। तब से मेरा विश्वास माता के प्रति अगाध हो गया।" इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि मां अपने भक्तों की रक्षा करती है। माता के बाण कहां-कहां पर कैसे-कैसे भक्तों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि ऑटर सिराज कुल्लू के लोग माता को तन-मन-धन से मानते हैं। शायद माता उनके इस मानने से सन्तुष्ट नहीं होती किन्तु इस बात का माता को अवश्य भास होता है कि श्रद्धालुओं की माता के प्रति कितनी श्रद्धा है। श्रद्धा ही भक्ति है और भक्ति ही मुक्ति है और मुक्ति ही जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है। मुक्ति एवम् भक्ति जो मानव जीवन का आधार है, माता के आशीर्वाद से भक्तों को प्राप्त है। जीवन से लेकर मृत्यु तक होशी-बेहोशी सब तरह की आधि-व्याधि का निवारण माता की कृपा पर भक्त मानते हैं और विश्वास रखते हैं कि वे कभी किसी विपत्ति का शिकार नहीं होते। जिस प्रकार रोग के निवारण के लिए हम औषधि का प्रयोग करते हैं और रोग से निवृत हो जाते हैं। उसी प्रकार माता कुसुम्भा भी कर्म रोगों का निवारण करती है। माता श्रद्धालुओं के प्रति इतनी चिन्तित होती है जिस प्रकार एक मां अपने नवजात शिशुओं के प्रति। एक मां अपने नवजात शिशु के दोषों को कुछ बड़ी बात न समझ कर क्षमा कर देती है उसी प्रकार मां भी भक्तों के दोषों को क्षमा कर देती है। भक्त-वत्सला मां कुसुम्भा की आरती यह जड़ लेखनी किस प्रकार उतार सकती है। जो मां इतनी महान् है दया और सहानुभूति की स्रोत है उस मां के विषय में अधिक कहना भी बहुत ही कम प्रतीत होता है दयानिधि मां की महिमा का वर्णन जड़ लेखनी नहीं कर सकती। जन साधारण की श्रद्धा ही माता कुसुम्भा की अपार दया-दयालुता का एक मात्र वर्णन है।

श्रद्धा एवम् विश्वास का सीधा सम्बन्ध संसारिक वस्तुओं से सुदूर आगे बढ़ कर सीधा आत्मा से होता है। मानव का जीवन के बारे में क्या दृष्टिकोण है इस विचार का सम्बन्ध भी विश्वास और श्रद्धा से ही प्रभावित होता है। बाहरी सिराज कुल्लू की जनता जनार्धन की भी मां कुसुम्भा के प्रति कितनी श्रद्धा है यह सागर के सदृश पानी की थाह है। उसकी गहराई अनुमान का विषय नहीं। जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं जिस पर धार्मिक विश्वास और श्रद्धा ने प्रभाव न डाला हो। ऋग्वेद काल में भी विश्वासों के सम्बन्ध में अनेक बातें द्रष्टव्य हैं। प्रकृति की शक्तियां ही देवता हैं, जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप देवताओं की प्रसन्नता से सम्पन्न होते हैं। यज्ञ करना, सुख, दुःख, धूप, वर्षा, आपत्ति, धन-दौलत, खेती-बाड़ी, अच्छे बुरे स्वप्न एवम् शगुन, लड़ाई-झगड़े, परेशानी तथा बेचैनी, त्रुटि भूल हर विशेष बात के लिए देवताओं पर भरोसा रखते थे। कार्य शुभ होगा, अशुभ होगा इन सब बातों के पीछे आदि काल से देवताओं की कृपा दृष्टि होती है। बाहरी सिराज कुल्लू तथा पहाड़ी प्रदेश में सैंकड़ों हजारों वर्षों से देवी-देवताओं की पूजा उपासना प्रचलित है। कुल्लू तो देव-भूमि है यहां पर ऋग्वेद काल से भी अधिक जन साधारण में विश्वास है। ये देवी-देवता यहां के लोगों की प्रकृति की उन शक्तियों को जगाते है, जिन से जन साधारण की आपत्तियां टल जाती हैं। इन देवी-देवताओं में माता कुसुम्भा का विशेष स्थान है। बाहरी सिराज कुल्लू में कुछ जनपद आज भी ऐसे हैं जहां पर लोग घरों में ताले नहीं लगाते। चोरी-डकैती, ठगी, बेईमानी बहुत कम होती है। यदि कोई ऐसा करते हुए पाये गए तो उन्हें यह कह कर कि 'माईया' अर्थात् माता कुसुम्भा तेरा स्वयंमेव बुरा करेगी। यद्यपि वह

अन्धविश्वासों वाली बातें हैं तथापि इन बातों में दैवी गुण हैं। छोटे बालक भी यदि किसी विशेष बात को मनवाना या सत्य पुष्टि करना चाहते हैं तो यही कहते हुए पाये गए हैं कि अपना दहिना हाथ 'माईया' (भगवती) को दे। 'माईये सोह काड़ा' अर्थात् माता कुसुम्भा की कसम खा। इस प्रकार सत्य विश्वास करते हैं।

बाहरी सिराज कुल्लू के लोग जो किसी न किसी रूप में देवी देवताओं पर विश्वास रखते हैं। अवश्यम् भावी हैं कि जन साधारण में दैवी गुण पैदा होंगे। भले ही यहां के लोग पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं हैं पर इनकी सादगी और सच्चाई का कोई भी अनुचित लाभ उठा ले किन्तु ये उन पढ़े लिखे असभ्य पुरुषों से अधिक सभ्य हैं। मानवता एवम् प्यार का इनका अपना ही एक छोटा सा विश्व है। इस छोटे से विश्व में इनकी परिश्रम प्रियता एवम् हर्ष उल्लास भरी बातों के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। ये हंसते, गाते, नाचते प्रसन्न रहते हैं। देवी-देवताओं पर इनकी आस्था है, प्रेम है, विश्वास है और यही विश्वास इन्हें इस बात के लिए प्रेरित करता है कि पाषाण निर्मित मूर्ति में भी भगवान बैठा है।

इन मूर्तियों में प्रभु अंश है ऐसा इनका विश्वास होता है। यह यहां के जन-जीवन का मात्र एक परिचय है। माता कुसुम्भा के प्रति भी इनका विश्वास इन्हीं भावों से ओत-प्रोत है। इस मन्दिर पर अनेक बार दस्यु ने भी प्रहार किये। सन् १९५० में भी इस मन्दिर पर दस्यु ने हाथ डाला परन्तु किसी का कोई बस न चला। १९६२ में बाहरी सिराज कुल्लू में भारी क्षति हुई। देवी से पूछा गया और ज्ञात हुआ देवी के रुष्ठ होने का ही यह कारण है। जन साधारण में मान्यता कम हो गई। किन्तु फिर जन साधारण देवी को पुन: मानने लग गए। आस-पास के चार गांव के पण्डितों ने पूजा करनी स्वीकार कर ली। १९६५ में दोबारा पुजारी मनोनीत किया गया। यह पुजारी नियमित रूप से १९७२ तक कार्य करता रहा किन्तु १७ जनवरी १९७३ को माता कुसुम्भा की मूर्ति चुरा ली गई। उन्नीसवीं वताब्दी में पहले भी इस मूर्ति को चुरा लिया गया था। उस समय यह मूर्ति महाराजा सुकेत की सहायता से प्राप्त हो सकी थी। कहते हैं जिस व्यक्ति ने इस मूर्ति को चुराया था वह अन्धा हो गया था। बाद में १६ अप्रैल १९७३ को पुन: यह मूर्ति खोज ली गई। इस मूर्ति का जब चुराया था तो अनेक नारियां बिलख कर रोने लगी थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो घर का कोई प्रिय व्यक्ति स्वर्गवासी हो गया हो। माता कुसुम्भा के प्रति उनका कितना स्नेह था, जन समाज में बड़ी हलचल थी। चारों ओर यही बातें गूंजती थीं कि माता एवं 'महामाईया' को चुरा लिया गया है। जन समाज में विवशता से भरा यही क्रन्दन एक तड़प थी। आंखों में आंसुओं का समन्द्र हिलोरे लेता था। इतना ही नहीं भय और विस्मय का वातावरण जन साधारण पर व्याप्त था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मूर्ति में बैठी मां कुसुम्भा ने अपने हृदय को कहीं और प्राण रूप में नये मूर्ति-तन को पा लिया है। जन समाज अत्यन्त ही हतप्रभ था। चारों ओर लोग यही कहते थे 'माईया' की चोरी हो गई है। लोग हैरान थे। ज्ञात हुआ कि मन्दिर का पुजारी कहीं गया हुआ था और उसका लड़का मन्दिर में था। दो व्यक्ति आये और मन्दिर का पूरा भेद पा लिया। वर्णन काव्य कृति के माध्यम से इस प्रकार उत्कीर्ण है :

आये माता दर्शनार्थ तेरे—
दस्यु दो अजनबी बन कर

नास्तिक नहीं आस्तिक बन कर,
चप्पा-चप्पा छान डाला मां।
नगरी तेरी का.........
यही अवसर ठीक पाया चोरी का
परन्तु मां तू भी अपार भोली,
दस रुपये की भेंट की युक्ति
दस्यु ने खोली.........
दस रुपये रुपये की भेंट पर मां
खुश हुई तू अपार.........
छल कर ले गये मां तुझे नदी पार।
दस रुपये में वश करने का
यत्न उन्हें सूझा ....
मन्दिर का भेद मां! तेरे
उस पुजारी किन्तु बालक......से पूछा।
पुजारी भी बेचारा भोला नाबालिग
क्या पता था उसे मां!.........
यह हैं तेरे घालक ....
यद्यपि अंगद तुल्य तूने
पैर जमाये थे भूर पर–
फिर भी, छल बल, से वे मां!
ले गये, आधा शरीरांग तेरा, तुझे छल कर।
प्राणों के प्रण में, तूने—
फिर भी हमें न भुलाया.........
खो कर निज अर्ध अंग मां! —
तूने पुनः निज सदन में स्थान पाया।

पुजारी जब घर लौटा तो स्थिति का ज्ञान हुआ, पश्चाताप करने लगा किन्तु अब क्या हो सकता था? इस चिन्ता को पुजारी का कहीं कुछ भी पता न चला। १६ अप्रैल १९७३ को जब मूर्ति खोज ली गई तो कहते हैं जिलाधीश कुल्लू को स्वप्न हुआ कि मूर्ति मिल गई है। मूर्ति को भय से मूंगियाराम ने मन्दि र के अति समीप सैंज के स्थान पर छोड़ दिया। उस चोर से जब यह पूछा गया कि तुमने यह साहस कैसे किया। उसने कहा कि माता कुसुम्भा के तेज को खत्म करने के लिए उसने चमड़ा मूर्ति पर लगा दिया था। कहते हैं कि चोरी करते समय मन्दिर में शेर भी गर्जने लगा था। बाद में भी उस मूर्ति को चोर ने स्वयंमेव माता के ही चमत्कार से मन्दिर के समीप पहुंचा दिया। जिलाधीश कुल्लू श्री चम्बयाल स्वयंमेव माता के चमत्कार से अत्यन्त प्रभावित हुए। मूर्ति की खोज कैसे हुई इस बात का ज्ञान उन्हें ही अधिक है। उनके आदेशानुसार ४ जुलाई, १९७३ को वेद मन्त्रों के साथ मन्दिर में माता

की मूर्ति को पुन: स्थापित किया गया। आज एक उप समिति जिस के प्रधान सूबेदार गोपीचन्द जी हैं, की देख रेख तथा पूजा का सारा कार्य भार उस समिति पर है जिसे जिलाधीश कुल्लू ने बनाया।

अन्त में यह निर्विवाद रूपेण कहा जा सकता है कि माता कुसुम्भा के प्रति बाहरी सिराज कुल्लू में कितनी आस्था है, कितना विश्वास है। स्पष्ट है कि उनकी सफलता के एवं हर्ष उल्लास, आशा, आकांक्षाओं की क्षतिपूर्ति ईष्ट देवों पर अवलम्बित है।

देवी देवताओं के प्रति यह विश्वास जो बाहरी सिराज में ही नहीं समस्त कुल्लू की सुरमयी घाटियों एवं पहाड़ी इलाकों में अत्यन्त ही सजीव है। देवी देवताओं का अपना-अपना प्रशासन है जिसमें देवता का मन्दिर, जमीन की आय-व्यय सब शामिल हैं। इन क्रिया-कलापों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान 'गुर' का होता है। 'गुर' देव या देवी का अंश होता है। उसकी वाणी या वाक् भक्तों को सन्तुष्ट करती है। देव प्रेरणा से वह जो कुछ कहता है वह अतिशय शत प्रति शत सत्य भी होता है। 'गुर' के लिए वही' पात्र होता है जिस की आत्मा शुद्ध हो। 'गुर' एक ऐसी आकाशवाणी होती है जिस वाणी का श्रवण सत्य का साक्षात होता है। यदि गुर इतने महत्व का है तो वह देव या देवी कितनी महान् होगी ?

भाषा शिक्षक,
श्री सनातन धर्म उच्च विद्यालय,
शिमला - १७१००१।

●★●

गद्दियों के कुल और निषेध

—डा० मोहन लाल

"कुल स्त्री-पुरुषों का एक ऐसा समूह है, जिसकी सदस्यता एक वास्तविक या अनुमानित रेखीय वंशानुक्रम द्वारा निश्चित की जाती है, जिसमें केवल विशिष्ट प्रकार के उत्तरदायित्व होते हैं।"[1] "कुल अनेक परिवारों के समूह से मिल कर बनता है। इनकी उत्पत्ति किसी पुरुष अथवा किसी न किसी रूप में किसी पशु, पक्षी एवं वृक्ष आदि से सम्बन्ध होती है और इनके सदस्य उनकी कुल देवता के रूप में उपासना करते हैं।"[2]

कुल का नामकरण किसी विशेष स्थान, ऋषि, व्यवसाय (कार्य) पर अविलम्बित हुआ करता है; जैसे स्थान के नाम पर लाडी (लद्दाख से व्यापार करने वाला कुल), जौनपुरियों (जौनपुर के रहने वालों) का कुल, ऋषि के नाम पर भारद्वाज कुल, व्यवसाय के आधार पर पालीहान (चरवाहा) कुल और सम्बन्धियों से सम्पर्क के आधार पर ननसैन कुल (नानी के यहां रहने वाला)।

कुल की संरचना भिन्न-भिन्न जन-जातियों में भिन्न-भिन्न रूप से होती है। मान लीजिए कि कोई जन-जाति किसी पहाड़ी पर निवास करती है। उसका नेता मुखिया कहलाता है। वह और उसके परिवार से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों का समुदाय मुखिया के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार अन्य सामन्त निचले भागों में निवास करते हैं और उन्हीं के साथ उन्हीं के परिवारों के व्यक्ति रहते हैं जिन से मिल कर उस सामन्त का कुल बनता है, अर्थात् इसके अनुसार एक नेता के नेतृत्व में पृथक व्यवसायिक जीवन व्यतीत करने वाले परिवारों के समूहों को पृथक-पृथक कुलों का नाम दिया जाता है। सामान्यत: कुल को गोत्र का समानार्थी समझा जाता है; परन्तु एक गोत्र में कई कुल भी होते हैं। यह व्यवस्था यदा-कदा ही पाई जाती है।[3] कहीं-कहीं पर कुल इतना विस्तृत हो जाता है कि उसमें अनेक अल होते हैं और कालान्तर में ये अल ही कुल का रूप ले लेते हैं। सम्बन्धित 'कुलों' में माता तथा पिता का 'कुल' पृथक होते हुए भी उन कुलों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करना अनिवार्य है।

---

1. Notes and Querries on Anthropology, Royal Institute of Great Britain and Ireland 1960, p. 89.

   "Clan may be defined as a group of person of both sexes, membership of which is determined by unilineal descent, actual or putative with ipsofacto obligations of an exclusive kind".
2. Majumdar, D.N. and Madan, T.N. 'Social Anthropology' or Ibid, p. 90.
3. Newell, W.H. Report on Scheduled Castes and Scheduled Tribes, Census of India 1961, vol. XX, part V-B (H.P.), 1965, p. 16.

सामान्यत: कुल में चार विशेषताएं पाई जाती हैं —(१) अपने कुल या कुल के उपभाग में विवाह नहीं करते, (२) प्रत्येक कुल का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष से होता है, (३) कुल का आदि पूर्वज कोई एक ही व्यक्ति होता है और (४) कुछ कुल अपना पृथक चिह्न रखते हैं, जैसे रामचन्द्र जी के कुल का चिह्न सूर्य था। आज कल यातायात के साधनों के व्यापक हो जाने के कारण कुलों की क्षेत्रीय विशेषताएं दिन प्रति दिन घटती जा रही हैं।

कुल के सदस्यों में एक प्रकार की आत्मीयता पाई जाती है। बहिर्विवाह उनकी सबसे बड़ी विशिषता है। इनके अनेक स्थल जैसे कुंज, बाग, मन्दिर, श्मशान व सती आदि प्राय: सामूहिक होते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करते हैं। कुल के सदस्यों में से जब कोई व्यक्ति कुल में आचरण का उल्लंघन करता है तो उसे कुल द्वारा दण्डित किया जा सकता है। एक सूत्र में बंधे रहने के कारण कुल के सदस्यों को बाल जन्म, विवाह व मृत्यु आदि पर अनेक सांस्कृति एवं धार्मिक सामूहिक उत्तरदायित्व पूरे करने पड़ते हैं और कुल की एकता को बनाये रखने के लिए उन्हें अनेक निषेधों का पालन करना पड़ता है।

गद्दियार प्रदेश की ब्राह्मण, खत्री, राजपूत, ठाकुर, रिहाड़ा, लोहार तथा हाली आदि जातियां छोटे-छोटे गांव में निवास करती हैं, जिनमें प्राय: एक ही जाति के एक ही गोत्र या अल के व्यक्ति निवास करते हैं और इन गांव को एक ही कुल के गांव की संज्ञा दी जाती है। भरमौर, गरेहड़, होली व कुगती आदि गांवों में कई गोत्रों के व्यक्ति निवास करते हैं, अर्थात् इन गांवों में कई गोत्रों के व्यक्ति निवास करते हैं। भरमौर निवासी मुख्य पण्डित श्री रामदत्त के अधिकार में सुरक्षित भरमौर प्रदेश के निवासियों के गोत्रों तथा अलो से सम्बन्धित पाण्डुलिपि के अनुसार ब्राह्मणों तथा गद्दियों (ठाकुर राजपूत एवं खत्री) के अनेक गोत्र तथा अल समान हैं। ये लोग सगोत्र स्थिति में विवाह नहीं करते। ऐसे गोत्रों में, कुण्डेल, भारद्वाज, भारद्वारी, उत्तम व गौतम आदि मुख्य हैं। शेष गोत्र एसे हैं जो ब्राह्मणों तथा गद्दियों में पृथक-पृथक हैं। उनमें वैवाहिक सम्बन्ध हो जाते हैं; परन्तु इन लोगों में से अधिकांश व्यक्ति अपने गोत्र की अपेक्षा अल को ही दृष्टि में रखते हैं और अलों को कुल रूप में मान कर वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करते हैं। दो अलों के मध्य केवल उसी समय वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो पाते जब मुख्य पण्डित अपनी गोत्र पुस्तक के आधार पर उन अलों को समान गोत्र से सम्बन्धित बता देते हैं। इस प्रकार गद्दियों में कही गोत्र को कुल और कहीं अल को कुल माना जाता है। ब्राह्मणों तथा गद्दियों के अतिरिक्त इस प्रदेश में रिहाड़ा, हाली व लोहार आदि जातियों में गोत्र तथा अल का अभाव होने के कारण कुल व्यवस्था नही मिलती। गद्दियार के पन्सेही तथा ग्रेहड़ ग्रामों में चौहान कुल के व्यक्ति निवास करते हैं जिन्हें दो गोत्रों में विभाजित किया जाता है। इसी आधार पर पन्सेही ग्राम के जवान गोत्र वाल तथा ग्रेहड़ के चौहान गोत्र वाले लोग आपस में वैवाहिक सम्बन्धित स्थापित नहीं कर पाते। पण्डित रामदत्त के अधिकार में उपलब्ध गोत्र-पाण्डुलिपि के आधार पर गद्दियार प्रदेश के निवासियों के गोत्र निम्नलिखित हैं। इसके आधार पर विशाल गोत्रों के अलों को तथा निम्न स्तरीय जातियों के गोत्रों को कुल की संज्ञा दी जा सकती है।

गद्दियों के गोत (कुल) :

जाति	गोत्र	अल
ब्राह्मण	वशिष्ठ	सम्पोल, कीलीलू, माट, जुकू, मारत, जिर्ग, झुकसान, लुंगी, चुपेथ्, छोबारू, तिपिरिलू, छांगेरु, बरदान, सदरान्त, चेतामीरू, पारगीत, बागरान, पाटान, सुन्देती, बनी, लट्टू, चकीरोतू, छोतार, सिगराम ।
तारकार (ठाकुर)	वशिष्ठ	चेतार, सिंगराम ।
राजपूत	वशिष्ठ	तारिगान, ओरयल ।
खत्री	वशिष्ठ	तरातान गेरू कारेत ।
ब्राह्मण	भारद्वाज	भारद्वाज, कापरी, कंगरेती, छेदी, पुताराम, कोतेलू, तलेलू ।
तारकार (ठाकुर)	भारद्वाज	भारद्वाज, कापरी, कंगरेती, छेदी, पुताराम, कोतेलू, तलेलू ।
राजपूत	भारद्वाज	छोरू ।
खत्री	भारद्वाज	गुरगनेटू, बागेती, कनेट ।
ब्राह्मण	भारद्वारी	देलपू, तेंजू, तारोतू, सतालेलू, तुकेलू, लूनालू, सिंकरान, वालालू, तुलिया, तिलेरेन, देतीन, मुकरेटू ।
ठाकुर	भारद्वारी	रोलेती, घुरेरू, बेरिंगू, सोरलू, सकेतरू, बेरान ।
राजपूत	भारद्वारी	पुरगान, पेनान, पोतीनी, नायकारी, दूनकेरू, डोरकेरी ।
खत्री	भारद्वारी	चुरियत, सुन्धू, दानारू ।
ब्राह्मण	उत्तम	पुकंतान, तिमारान, पालहान, सखेतू, कारकेरू ।
तारकार	उत्तम	मालान, गौरी, दिगेत, राकार, लामरेजू, तारकेरू, बुगेती, लंगेतू, जेलू ।
राजपूत	उत्तम	तोसेरू, छोटेरू, हारालू, जुनवार, कुवेतू, परीति, कानेतू, काईन्डेरू, चेनून, दुनदेतू, कानानूने, जोगेत, कुण्डियास ।
खत्री	उत्तम	दुगयू, आसार, पोतू, सान्नु, पालनियाल, कलेतु, बारूनु, हंगोल, कानदान ।

जाति	गोत्र	अल
ब्राह्मण	गौतम	हरसेरू, नुनसान, लुलेल, सिटकान, जुनून, खेन्न, बटारू, नांग ।
तारकार (ठाकुर)	गौतम	गोरू ।
राजपूत	गौतम	×
खत्री	गौतम	×
ब्राह्मण	बार्ज	जुल्कान ।
तारकार (ठाकुर)	बार्ज	×
खत्री	बार्ज	जुगारू ।
ब्राह्मण	रतनपाल	सिन्धी, नीरीलू ।
तारकार (ठाकुर)	रतनपाल	सिन्धी, नीरीलू ।
राजपूत	रतनपाल	सिन्धी, नीरीलू ।
खत्री	रतनपाल	बुकसान ।
ब्राह्मण	कुण्डेल	×
राजपूत	कुण्डेल	अगासानी, बन्दारू, मोनून, ढुकान, गुलारान ।
तारकार (ठाकुर)	कुण्डेल	रासी ।
खत्री	कुण्डेल	बेदीरू, तिलाल, हिलाल ।

केवल ब्राह्मणों में पाए जाने वाले गोत्र और उनके अल[1] :

काली (सुपयाल, पातारू, तिमारेतू, लेडी), बाचेला (कारू), बाचील (जोगू), गंग (जारीति), जेतर्द (ग्रेती), शशिपाल (सेसी), कुनकुनून (लोहारू), सनेकाल (मुकरतू), कालिया (पुन्नाण, सुपाल), अजिन (जुतान), भूपाल (रेरेतू), सेनकियार (भारान), उतेरा (मोन्नालू), अतिर (योती)

1. The bracketed names are the Als.

केवल तारकारों (ठाकुरों) में पाए जाने वाले गोत्र और उनके अल :

एजिन (मुरालोतरू), दुपर (गोलेतू), पारासर (बुन्दू), गुबेल (चेरीमन, तिरीनान) गस्सप (फकीर, यादाही, चुरू, दारान, दारिनान, मुण्डु), डियर (देरान), दासी (सालान, चुराल गुरकेरू, लुंगाडानन, कारोरो), उछिल (रूदान), गोसेन (रूमचिलू), कशप (कुर्वीरान), अगासानी (मारादू), सुमेलू (मिन्दू), देवाई (विगरेलू), कासहेन (गुतेली, कारेन, बुदीलू निरगिरी, रेलू), गुशिम्प तुरेतीलू, कुंजेरीलू), पारासान (नवालू), सुरीशी (चुन्केरू), उग्गिनास (लोरी) एबीलू (माकारीरू), कासी (तानारू), सुबलू (केरसी), गोजेलू (सितुसीस)।

केवल राजपूतों में पाए जाने वाले गोत्र एवं अल :

केरेल (हिलाल, गोरेती, पोलीतू), भाराज (दानगरान, रेहती), अतिम (पंकोलू), काशिप (घोरनुंगू), पाल (सुकेतिया, पुखेरू, हरशान, पुरशान, चेरीतू), नगली (छेल्लेदी, नाग-लीलू), बाछर (रिहान), चौहान (रिनान, रिहन्यान, मासान, सोरेत, लापचाल), सुनकाल (कोली, बादू), देविल (जुरयान, काराऋतु, रोलीती, कोकान), अतर (लालाल, विओत, कारकेतू, बांदरालू, डोनगेती, गुंगरान, सावालू, मुकरेती, रानान), काशिल (बारामानून, जुल्यान, तोसेरू), अनिमनु (मारतान), शिशुपाल (कानगीरू), पर्म (हारीती, बुकसान)।

केवल खत्रियों में पाए जाने वाले गोत्र एवं अल :

डिबियर (मोरातू), होतप (कपीलेग, बरगेतू, पुक्काल, गुएर), बन्दारू (किमान, मिच, मिचऋतु), अत्री (मन्दाल), कांग (मोसू), बन्दर (कांचिगा), गिबीलू (पुनजारू), पनटारू (दुरान, कुलसान, सांगाल, संजान), अतर (यानदाल, रतनपाल), कपूर (पातातरू), केनालू (तिलेल)।

गद्दियार प्रदेश में कुल की सब से छोटी इकाई चूल्हा है। पुत्र के विवाह के तुरन्त ही पश्चात् या विवाह से कुछ समय पश्चात् उतने ही चूल्हे मकान में स्थापित हो जाते हैं जितने परिवार में विवाहित पुत्र होते हैं। ये चूल्हे एक ही मकान की विभिन्न मंजिलों में मिलते हैं; परन्तु कभी-कभी अन्य समीपस्थ मकानों में भी ये स्वतन्त्र रूप से छोटे परिवार का रूप ले लेते हैं। कई चूल्हों के समूह को 'टोल' कहते हैं। इनमें प्रायः तीन पीढ़ियों तक के व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है। 'टोल' वस्तुतः एक ही बाबा की विभिन्न सन्तानों के परिवार होते हैं। कई टोलों से मिल कर जो बड़ी इकाई बनती है उसे 'खिण्ड' कहा जाता है और कई खिण्डों से मिल कर एक खानदान बनता। वास्तव में एक खानदान तक 'अल' एक ही होता है और प्रायः इन्हें ही कुल कहा जाता है। कई खानदान मिल कर 'सरीकी' का स्वरूप ले लेते हैं। इस प्रदेश की 'सरीकी' मैदानों की बिरादरी का समानार्थ ही समझना चाहिए।

गद्दियार प्रदेश के अधिकांश कुलों का विकास टोटम, स्थान तथा व्यवसाय के आधार पर हुआ है जैसे बन्दर टोटम के आधार पर बन्दरालू कुल का प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार सुन्न (सन्न वृक्ष के सामने उत्पन्न होने वाला) तथा गुऐर (गायों के छप्परों में पैदा होने वाला) कुल का प्रारम्भ हुआ। इस प्रदेश में भारद्वाज, गौतम आदि ऋषियों के नाम पर अनेक कुल प्रचलित हैं।

व्यवसायों के आधार पर भी पुखेरू कुल (पक्षियों को मार कर जीवन व्यतीत करने वाला), मुराद्रू (मनुष्यों को मारने वाला) आदि कुल प्रचलित हैं।[1]

गद्दी कुलों में पारस्परिक सहयोग की प्रथाएं प्रचलित हैं। विवाह के समय छेत्री प्रथा और मकान बनाते समय 'केवाड़' प्रथा इस प्रकार के सहयोग के ज्वलंत उदाहरण हैं। कुल की प्रतिष्ठा और एकता को बनाए रखने के लिए सामाजिक दण्ड की व्यवस्था भी कुलों में प्रचलित है। इस प्रकार इस दण्ड को 'बेताल' कहा जाता है। इस प्रकार का दण्ड कुल सभा द्वारा घोषित किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति गोत्र की किसी स्त्री को भगाने का दोषी पाया जाता है तो कुल उसका बहिष्कार कर देता है। कुल का कोई भी व्यक्ति उसके यहां न तो पानी ही पी सकता है और न ही वह किसी के यहां जल-पान कर सकता है।

गद्दियों में भूमि का प्रयोग पारिवारिक है; परन्तु उस पर कुल का नियन्त्रण है। यदि कोई व्यक्ति सन्तानहीन मर जाता है तो उसकी भूमि का स्वामी उसका जामाता न होकर उसके कुल के सदस्य होते हैं और कुल का वृद्ध व्यक्ति उसे पुनः कुल के सदस्यों में विभाजित कर देता है।[2] इसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त कुल का प्रत्येक परिवार चन्दा एकत्रित कर मृतक के लिए कफ़न खरीदते हैं और कुल के प्रत्येक परिवार का प्रत्येक व्यक्ति चिता पर एक-एक लकड़ी अवश्य रखता है। इनके श्मशान भी कुल के आधार पर पृथक-पृथक रूप में किसी नदी या स्रोत के किनारे होते हैं।[3]

पुत्र तथा पुत्री दोनों ही का समान रूप से पिता – कुल के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध रहता है। मैदानों के हिन्दुओं में लड़की के विवाह होने के पश्चात् उसके पिता के परिवार में उसका कोई स्थान नहीं रहता; परन्तु इन लोगों में पुत्री का सम्बन्ध पितृ-परिवार के साथ बिलकुल उसी रूप में बना रहता हैं जिस रूप में वह विवाह से पूर्व था। यदि विधवा होने पर कोई स्त्री अपने बच्चों को साथ लेकर अपने पिता के परिवार में जाकर रहने लगे तो उसके बच्चों का कुल उनके मृतक पिता का कुल ही माना जायेगा; परन्तु ताब्बेर परम्परा के अनुसार ही किसी स्त्री को उसके पति के मरने के पश्चात् पितृ-कुल में उचित स्थान प्राप्त हो पाता है। वह वहां सुख से रह सकती है; परन्तु उसे पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता। पिता परिवार का व्यक्ति अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को पिण्ड देते समय विवाहित मृतक पुत्री या बहन को भी पिण्ड दान करता है और वे मरने के उपरान्त भी पितृ कुल की सदस्या बनी रहती हैं।

प्रत्येक कुल के अपने पृथक-पृथक पुरोहित होते हैं और प्रत्येक कुल के अपने-अपने पृथक-पृथक देवता होते हैं जिन्हें इस क्षेत्र में ग्राम देवता का रूप दे दिया गया है।

---

1. Rose, H.A. 'Glossary of the Tribes and Castes of Punjab and N. W. F. Provinces', vol II, Lahore, 1911, p. 257.
2. Newell, W.H. 'The Brahmin and Caste Isogamy in North India' 'Journal Royal Anthropological Institute, Great Britain and Ireland', vol. 85, 1955, p. 104.
3. Ibid, p. 105.

निषेध

गद्दियों में भी अन्य जन-जातियों की भान्ति खान-पान, बाल-जन्म, विवाह, मृत्यु तथा अनेक दैनिक कार्यों में अनेक प्रकार के निषेध प्रचलित हैं। निषेध से तात्पर्य अभिचार किंवा धार्मिक अभिमत पर आधृत प्रतिषेध से है, जिस का उल्लंघन करने से व्यक्ति को स्वतः ही अपने अपराध का दण्ड प्राप्त हो जाता है।[1]

खान-पान में निषेध :

गद्दी जाति के व्यक्ति प्रायः प्रत्येक प्रकार का शाक और मांस खाते हैं। धार्मिक दृष्टि से इस क्षेत्र में गो मांस भक्षण निषिद्ध है। राम नवमी, जन्माष्टमी आदि वैष्णव मत से सम्बन्ध पर्वों के अवसर पर किसी भी प्रकार का मांस खाना निषिद्ध है। इन दिनों ये फलाहार पर ही जीवन निर्वाह करते हैं। रिहाड़ा, लोहार तथा हाली आदि छोटी जातियों के साथ बैठ कर यहाँ के व्यक्ति न तो अग्नि ही तापते हैं और न ही भोजन करते हैं। प्रायः ब्राह्मण और गद्दी भी इस प्रथा का अपने मध्य पालन करते हैं; परन्तु कुगती ग्राम में खान-पान की यह प्रथा शेष घाटी से भिन्न है। इस गांव में गद्दियों तथा ब्राह्मणों के मध्य खान-पान तथा वैवाहिक सम्बन्धों पर किसी प्रकार का कोई निषेध नहीं है। गद्दी पिता से उत्पन्न सन्तान अपने को गद्दी और ब्राह्मण पिता से उत्पन्न सन्तान अपने को ब्राह्मण कहती हैं। जब ये दोनों जातियां कुगती ग्राम में ही रहती हैं तो आपस में स्वतन्त्रता के साथ खाती-पीती हैं; परन्तु जब ये कुगती को छोड़ कर घाटी के शेष भाग में जाती हैं तो अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य जाति के साथ खान-पान, हुक्के आदि में निषेध का पालन करती हैं।[2] ऋतुमती स्त्री के हाथ का बना हुआ भोजन करना या उसके हाथ का छुआ जल पीना निषेध माना जाता है।

महीनों तथा दिनों से सम्बन्ध निषेध :

इस क्षेत्र के व्यक्ति चैत्र, पौष तथा माघ इन तीन मासों को काले महीनों के नाम से सम्बोन्धित करते हैं और किसी नवजात बालक को इन मासों में घर से बाहर ले जाने पर निषेध है। मेरे विचार में इस निषेध का कारण इस क्षेत्र में इस समय (जनवरी-फरवरी) के अत्यधिक कठोर शीत और बदलती हुई ऋतु के प्रभाव से बच्चे को बचाना मात्र ही है। भादों में गाय के बच्चा उत्पन्न होने को अशुभ मानते हैं और इसी कारण उसे घर में रखने पर निषेध है। यदि कोई व्यक्ति पंचक के दिनों में मर जाता है तो उसके शव को अकेले जलाने पर निषेध है क्योंकि इन

---

1. Notes and Querries on Anthropology 'Royal Institute of Great Britain and Ireland', 1960, p. 185.

   "The term Tabo should be limited to describing a prohibition resting on some magico-religious sanction, infrignment of which bring punishment automatically".

2. Newell, W.H. Iter-caste marriage in Kugti Village, Upper, Budhel, Nala, Brahamour Tehsil, Chamba District (H.P.) India, 'Man in India' April 1963, vol. 63, p. 56.

लोगों का विश्वास है कि इस निषेध का उल्लंघन करने पर परिवार के अन्य सदस्यों की मृत्यु निश्चित है । अतः मृत्यु के दिन पंचक के जितने दिन शेष रह जाते हैं उतनी ही कपड़े की गुडियों को शव के साथ रख कर दाह संस्कार करते हैं, जिससे परिवार में अन्य कोई मृत्यु न हो । पंचक के दिनों में प्रायः सभी नये कार्य बन्द कर दिए जाते हैं और नया कार्य प्रारम्भ करने पर निषेध है ।

कुछ कार्यों के लिए रविवार, कुछ के लिए मंगलवार और कुछ के लिए शनिवार निषेध माना जाता है । यहां के निवासी यह मानते हैं कि यदि विवाह रविवार को सम्पन्न होता है तो पति-पत्नी के मध्य कलह रहती है । मंगलवार को विवाह होने पर पत्नी के विधवा होने का भय रहता है । शनिवार को विवाह करने पर परिवार में रोग अधिक फैलते हैं । शुक्रवार के दिन परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य किसी को गाय का गोबर उठाने नहीं दिया जाता, क्योंकि उनका विश्वास है कि इस निषेध का उल्लंघन करने से गाय रोगी हो जाती है या उसका दूध सूख जाता है । रविवार, मंगलवार तथा शुक्रवार को यात्रा करना निषेध है और इस निषेध का उल्लंघन करने पर परिवार में अनेक विपत्तियां आने का भय रहता है । शनिवार के दिन स्त्रियों के लिए सिर धोना निषेध है । क्योंकि इस निषेध का उल्लंघन करने से स्त्री को अपने पति के रोगी होने का भय रहता है ।

बालक जन्म पर निषेध :

इस जन जाति में बालक जन्म-दिवस पर दो प्रकार के निषेधों का पालन किया जाता है । बालक के जन्म लेते ही शुद्धिकरण की क्रिया सम्पन्न करने तक खान-पान के अनेक कार्य तथा ईश्वरोपासना आदि निषिद्ध होते हैं । कन्या जन्म पर यह निषेध पांच दिन तक और पुत्र जन्म पर यह निषेध सात या दस दिन तक माना जाता है । जिस कक्ष में बालक का जन्म होता है, उसकी किसी वस्तु को स्पर्श करने, उस कक्ष में जाने तथा उस कक्ष में सूतिका समय तक भोजन करने पर निषेध है ।[1] शुद्धिकरण हेतु माता के वस्त्र धुलाए जाते हैं । गोमूत्र, दूध तथा गंगा जल मिलाकर उसे परिवार के सभी वस्त्रों पर छिड़का जाता है और घर के सभी सदस्य उसे चखते हैं ।

मृत्यु पर निषेध :

मृत्यु पर गद्दियों में दो प्रकार के निषेध प्रचलित हैं । मृत्यु के पश्चात् कुल के सभी सदस्य 'पातक' का पालन करते हैं, अर्थात् मृत्यु के ११ दिन पश्चात् तक कातना तथा पूरी आदि बनाने का निषेध माना जाता है । यह निषेध मृत्यु के ११, १२ या १३ दिन पश्चात् उसी समय समाप्त होता है जब शुद्धिकरण की क्रिया पूर्ण करली जाती है । मृतक का शोक मनाने वाले परिवार या कुल के सभी सदस्य प्रतिदिन केवल एक बार हल्का भोजन करते हैं । गेहूं या चावल के अन्य किसी प्रयोग का निषेध है । मृत्यु के उपरान्त दाह संस्कार के उपरान्त शेष अंगुलियों, टांगों के जोड़ों तथा पैरों की ७ हड्डियों को थैली में बन्द करके हरिद्वार गंगा जी में विसर्जित करने के लिए यात्रा करने वाला व्यक्ति अपनी यात्रा की अवधि में उस थैली को अपने गले में ही पहने रहता है । यात्रा काल में हड्डियों

1. Samual, T. Waston and Dr. Hutinchinson, 'Punjab States Gazetteer'—vol. XXII A, Chamba State, 1904–1910, p. 41.

की इस थैली को गले से पृथक करना निषिध है। इसके लिए यात्रा की अवधि में चारपाई पर सोने और दिन में एक समय से अधिक भोजन करने पर उस समय तक निषेध है, जब तक कि वह उस थैली को गंगा जी में विसर्जित करके घर वापस नहीं आ जाता।

इस प्रकार कुल और निषेध की व्यवस्था के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गद्दियों में कहीं गोत्र और कहीं अल कुल का रूप लिए हुए हैं। प्राय: एक कुल एक गांव में निवास करता है, परन्तु बड़े गांव में कई-कई कुल भी मिलते हैं। सम्पूर्ण कुल की अपेक्षा कुल के उपभागों (अल) में अधिक सहयोग पाया जाता है। कुल की एकता को बनाए रखने के लिए मृत्यु, जन्म और विवाह के अवसर पर परस्पर सहयोग की भावना को जन्म मिला है और कुल की मर्यादा को भंग करने वाले व्यक्ति के लिए सामूहिक दण्ड की व्यवस्था भी है।

गद्दियों के कुछ निषेधों से उनकी आर्थिक व्यवस्था भी दृढ़ होती है, जैसे मृत्यु पर कुल के सदस्यों को दिन में एक बार हल्का भोजन करना। इस क्षेत्र में प्राय: भोजन की कमी निरन्तर बनी रहती है। अत: मृत्यु के उपरान्त जब १३ दिन के पश्चात् सामूहिक भोज होता है तो एक बार भोजन न करने से बचा हुआ अन्न उसमें काम आ जाता है और मृतक के परिवार पर अन्य कोई भार नहीं पड़ता। मृत्यु पर, बालक के जन्म पर तथा स्त्री के ऋतु काल में निहित निषेध अशुधि के निवारण तथा स्त्री को विश्राम-प्रदान करने अथवा उसे शारीरिक रोगों से बचाने के लिए आवश्यक हैं। शेष निषेधों पर परम्पराओं और अन्ध-विश्वासों का प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। शिक्षा की प्रगति और यातायात के साधनों में सुधार के फलस्वरूप कुल व्यवस्था तथा निषेधों के प्रति आस्था ढीली पड़ती जा रही है।

द्वारा
सुरेश सोप फैक्टरी
मेरठ

कांगड़ा-लोक नाट्य :
परम्परा, स्वरूप ग्रौर सम्भावनाएं

—शम्मी शर्मा

"लोक नाट्य" शब्द लोक और नाट्य का समस्त पद है। लोक शब्द लोक दर्शने धातु से 'घञ' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है–जिस का अर्थ देखने से है। लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। जन सामान्य के अर्थ में लोक का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनों के लिए हुआ है। 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रा तथा लोकां ३ अकल्पयन्' ऋग्वेद के पुरुष सूक्त और अन्य स्थानों में भी यह जीव और स्थान के व्यवहार के लिए प्रयुक्त है। पाणिनि ने लोक शब्द को वेद से इतर माना है। वररुचि ने अपने वार्त्तकों में भी लोक शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः 'वेद' और वेदेतर स्थिति वाचक लोक शब्द प्रकट होता है। इसी से आगे वैदिक शब्द प्रयुक्त होने लगा। इससे यह परम्परा का सहेजक, अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में व्यवहित होने लगा। यजुर्वेद में 'लोक' शब्द के द्वारा समाज की विराट कल्पना हुई वहां दूसरी ओर संस्कारों की द्योतक संस्कृति का उत्स भी इससे निबद्ध हो गया। लोक जहां जन साधारण (समाज) के लिए प्रयुक्त हुआ, वहां आर्य और आर्येतर, प्राचीन अर्वाचीन, नागरिक, ग्राम्य दोनों ही संस्कृतियों के लिए समान और व्यापक रूप में प्रकट हुआ है। यहां इसके व्यापक अर्थों को समझने के लिए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्द गाह्य हैं। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान ग्रौर सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यावसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति के द्वार, और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।[1] अग्रवाल जी के इन विचारों से अथर्व वेद का सूक्त 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' यह भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हुं, लोक के साथ अतिनिकटस्थ निबद्ध हो जाता है। भारतीय कृषक, लोक का महाप्राण और उसकी आवास भूमि ग्राम्यता इस से ध्वनित होती है। इसके व्यापक अर्थों को और भी स्पष्ट करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है। लोक शब्द का अर्थ 'जान पद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई समूचि जनता से है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं

---

1. सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति विशेषांक) २०१० पृष्ठ ६५।

और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहिर जो अपनी पुरातन स्थिति में चले आ रहे हैं, उन्हें 'लोक' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यह स्वरूप 'परम्परागत' और इनकी रचनाएं 'पारम्परिक' 'लोक' शब्द से रूपायित हैं। इनका साहित्य 'लोक साहित्य' है। इनके गीत 'लोक गीत' हैं। यह समस्त साहित्य मौखिक है और लिपि में इनकी संजीवनी शक्ति विनष्ट हो जाती है।

लोक के पश्चात् दूसरा समस्त पद का भाग नाट्य हमारे सामने आता है। 'नाटक' और 'रूपक' दो शब्द 'नाट्' और 'रूप' इन दो धातुओं से विनिर्मित हुए हैं। शब्दों के प्रयोग के इतिहास का अन्वेषण करने पर दश रूपककार धनञ्जय से पूर्व तक 'नाट्' शब्द का प्रयोग अधिक और 'रूप' का कम होता रहा। प्रारम्भ में केवल 'नाट्' का ही प्रयोग अधिक होता रहा जिसके अर्थ हैं दृष्य प्रतिनिधित्व (अवस्थानुकृतिर्नाट्म्) अंग्रेजी में इसे विज़ीविल रिप्रेजेंटेशन कहते हैं। प्रारम्भ में दृश्य तत्व ही प्रधान रहा। नाटक के विकास क्रम में रूप तत्व की प्रधानता आ जाने से 'रूप' शब्द भी सामने आने लगा। लगभग एक हजार वर्ष की अवधि तक दोनों ही शब्द प्रयुक्त होते रहे। ईसा की दशम् शताब्दी के उत्तरोत्तर 'नाट्' शब्द को 'रूप' ने पीछे धकेल दिया और नाटक शब्द के स्थान पर रूपक शब्द प्रयुक्त होने लगा। नृत्त > से 'नृत्य' से अभिप्राय नाचना, गाना और किंचित अभिनय है और 'नाट्' शब्द से नाट्य का आशय अंग संचालन के साथ अभिनेयता है। यहां से रस आधार बनने लगता है। जब कोई व्यक्ति रसानुभूति के वश विवश होकर अंग संचालन आत्म तुष्टि के लिए करता है तो वह 'नृत्त' के नाम से पुकारा जाता है। जब वही भाव एवं अंग संचालन आत्म-तुष्टि के साथ अन्य दर्शकों को भी प्रभावित करते हैं तो वह नृत्य का आधार बनता है। 'नृत्त' विषयी प्रधान के स्थान पर विषय प्रधान होने से नृत्य कहलाता है। इसके पश्चात् की अवस्था नाट्य की होती। जब विषय और विषयी प्रधान दोनों अवस्थाओं का सामञ्जस्य होता है अर्थात् अभिनेता स्वयं अनुभूति करता हुआ दर्शक के अपने पृथक व्यक्तित्व को भुला कर अपने में ही तन्मय कर लेता है वही नाट्य कहलाता है।

'रूपक' की अवस्था इससे भिन्न होती है। वह किसी अन्य पुरुष महापुरुष के रूप का प्रदर्शन या उसे रूपायित करता है। नाट्य की इस परम्परा का प्राचीनतम रूप 'भाण' है। संस्कृत साहित्य में भाण नाटय में केवल एक ही पात्र, उसकी भाषा संस्कृत, विषय वर्णनात्मक और धर्म निरपेक्ष रहता है। नाट्य शास्त्र में 'भाण' के रचना विधान में वृत्तियों, सन्धियों के और लास्यांगों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। दशम् शताब्दी के पश्चात् धनञ्जय ने इन सब का उल्लेख किया है। जो कि नाट्य का परवर्ती प्रभाव एवं विकास है। प्रारम्भ में नाट्य का रूप केवल एक ही पात्र, एक ही घटना और एक ही अंक में प्रदर्शित होता रहा। पात्रों की अधिकता से 'प्रहसन' और 'व्यायोग' नाट्य के रूप सामने आए। बीच में गीत का सम्मिश्रण 'लास्यांग' पुकारा जाने लगा। इस प्रकार नाट्य कला की भाण, परम्परा कथावस्तु पात्र, विषय, नाट्य शास्त्र के विविध पक्षों, सिद्धान्तों और व्यायोग प्रहसन के भेदों उप-भेदों के लम्बे और विस्तृत विषयों को कहीं अन्यत्र लेंगे, और सीधे लोक नाट्य की ओर बढ़ते हैं।

---

1. जनपद वर्ष १, अंक १, पृष्ठ ६५।

लोक नाट्य से अभिप्राय जनता प्राय: 'ग्रामीण' या ग्राम्य जहां परम्पराएं अपने वास्तविक रूप में चली आ रही हैं और परिष्कृत रुचि के नागरिकों के मनोरंजन से है। परिष्कृत नाटकों की आधारभूमि यही लोक नाट्य है। लोक-नाट्य ही एक बीज रूप रहा है जिससे नाटक के तत्वों, शैलियों और भेद आदि परिस्फुटित हुए हैं। लोक नाट्य ही पंचम वेद है, ऐसा भारतीय शास्त्र का मत है। इसके प्रति पौराणिक आख्यान जिसे भरत मत भी कहते हैं इस प्रकार है। त्रेता युग में सांसारिक लोगों के नीरस एवं दुःखी जीवन को देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जा कर प्रार्थना की, "महाराज! हमारे मनोरंजन के लिए पांचवां वेद दीजिए क्योंकि स्त्री जाति और शूद्रादि वेदों के पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। उनके मनोरंजन के लिए अन्य वेद दो।" ब्रह्मा ने देवताओं की याचना स्वीकार करते हुए, ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय, और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद की स्थापना की। शिव एवं पार्वती ने ताण्डव और लास्य नृत्य इसे प्रदान किया और विष्णु ने चार नाट्य शैलियों का निर्माण किया। भरत मुनि को यह अधिकार दिया गया कि वह इस नाट्य-वेद का संसार में प्रसार करे। इन्द्र ध्वज उत्सव के अवसर पर इस नाट्य-वेद का प्रथम बार प्रयोग हुआ। इसके पात्र स्वयं देवता और अप्सराएं थीं। इसके सफल प्रयोग को देख कर देवगण बहुत प्रसन्न हुए, और अभिनय करने वाले पात्रों को उन्होंने बहुत सी वस्तुएं उपहार में दीं। इस नाट्य के अन्तर्गत जब उन्होंने इन्द्र विजय का अभिनय किया तो उसमें देवताओं का उत्कर्ष और राक्षसों का अपकर्ष दिखाया। इससे राक्षस क्रुध हुए और उन्होंने उपद्रव और विघ्न डालने प्रारम्भ कर दिए। इससे बचने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा को रंगशाला बनाने का आदेश दिया। इन्द्र की आज्ञा से विश्वकर्मा ने रंगशाला तैयार की जिस में दो नाटकों 'त्रिपुर दाह' और 'समुद्र मन्थन' का अभिनय हुआ। रामायण और महाभारत काल में भारतीयों का ललित कलाओं की ओर विशेष आकर्षण बढ़ा इसका प्रमाण उस उल्लेख से है जिस में सप्त सिन्धु प्रदेश की स्त्रियां अपने मुख पर रंग का लेप कर के नृत्य करती थीं। धार्मिक महोत्सवों, यात्रों के समय लोगों के मनोरंजन के लिए खुले आम स्थानों पर राम और कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता था। इस प्रकार नाट्य परम्परा का सम्बन्ध वैदिक ऋग्वेद में इन्द्र मरुत के कथोपकथन से चल कर त्रेता युग रामायण और महाभारत काल तक पहुंचता है। भारतीय नाट्य कला का कालान्तर में प्रभाव देश देशान्तरों में पहुंच गया। रामायण ने तो बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, स्याम आदि स्थानों को भी नाट्य कला की प्रेरणा दी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में भूतपूर्व सरगुजा रियास्त की पहाड़ी में अवस्थित सीतावेंगा तथा जोगीमारा की गुफाओं में आज भी प्रेक्षागृह बना हुआ है।

मुसलमानी शासन प्रतिष्ठित हो जाने पर भारतवर्ष की एक सूत्रता समाप्त हो गई। देश छोटे-छोटे राज्यों और रियास्तों में विभक्त हो गया और इस प्रकार हजारों वर्षों से चली आ रही नाट्य परम्परा नष्ट हो गई। यह वही समय था जबकि भारत में भक्ति आन्दोलन का संचालन हुआ। भारतीय मंच, मठों और मन्दिरों तक सीमित हो गया। यही वह समय है जबकि कांगड़ा लोक नाट्य परम्परा का उदय हुआ और अब विषय का सम्बन्ध उससे निबद्ध होता है। राम और कृष्ण के भक्त आचार्यों ने राम और कृष्ण भक्ति का प्रचार किया और भागवत के दशम स्कंध की कथा का बाल कृष्ण की लीलाओं के रूप में मन्दिरों, मठों में अभिनय होने लगा। महाप्रभु बल्लभाचार्य के

सतत प्रयत्नों से कृष्ण लीला में गीतों का समावेश होने से रास लीला का पूर्ण स्वरूप प्रकट हुआ। यही रास लीला कांगड़ा लोक-नाट्य का आदि स्वरूप है। रासलीला को अभिनीत करने वाली पार्टी या मण्डली रासधारिये के नाम से पुकारी जाती रही है। उसी के अनुसार स्थानीय लोग रासलीला का अभिनय करते रहे हैं। ये कभी पुराने काल में "जम्मुए दे रासधारिए" या "मथुरा-वृन्दावने दे रासधारिये" बहुत दूर जन पद नाट्य धर्मी मण्डली बना कर कांगड़ा जन पद में अपनी नाट्य कला का प्रदर्शन करते रहे। सौ वर्ष पूर्व इसका कांगड़ा क्षेत्र में बहुत भारी बोल बाला था। दस-दस मील से लोग चल कर रासलीला देखने आया करते थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य जी की वैष्णव भक्ति कृष्ण लीला और रास लीला में अभिनय रूप में समस्त उत्तर भारत में प्रचारित होती गई। फिर यह ललित-क्रीड़ा-रंगस्थली, संगीत, चित्र आदि कलाओं की भूमि कांगड़ा इससे कहां वंचित रहती। नगरों और कांगड़ा क्षेत्र में यह लोक नाट्य कला तब से निरंतर चली आ रही है। इसी प्रकार राम भक्ति का प्रचार स्वामी रामानन्द ने किया। उन्हीं के शिष्य महात्मा तुलसीदास जी ने सर्वप्रथम राम लीला की स्थापना काशी में की। इस प्रकार राम लीला का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो गया। राम लीला कमेटियां, मण्डलियां दशहरे के अवसर पर अपना अभिनय लोक नाट्य परम्परा में रात भर प्रदर्शित करती रहीं। कांगड़ा लोक नाट्य में यह राम लीला आज भी इस क्षेत्र में प्रत्येक स्थान पर मंचित होती है। रास लीला का स्वरूप शृंगारी है और राम लीला में भगवान राम का गुणानुवाद भरा है। कांगड़ा के ग्राम्य में लोक धर्मी यह नाट्य परम्परा उसी काल से निरंतर चलती आ रही है।

कांगड़ा लोक-नाट्य परम्परा में सब से महत्त्वपूर्ण विकास और महत्त्व 'भगत' को प्राप्त है। 'भगत' यहां की अपनी लोक-धर्मी विशिष्ट नाट्य परम्परा है। संस्कृत नाट्य परम्परा के विकास क्रम आधार पर प्रहसन भेद के अन्तर्गत ही भगत का सम्बन्ध जुड़ता है। भरत आचार्य जो (प्रथम और तृतीय ईसा के मध्य हुए) ने प्रहसन के दो भेद किये हैं :— १. शुद्ध, २. संकीर्ण। कांगड़ा लोक-नाट्य परम्परा में 'भगत' संकीर्ण प्रहसन है। संकीर्ण प्रहसन के पात्र—वेश्या, चेट, नपुंसक, विट्, धूर्त, बन्धकी होते हैं। इनका वेष और चेष्टाएं अपरिष्कृत होती हैं। इनका प्रधान विषय दम्भ, छल, ढोंग, आडम्बर आदि का भाण्डा फोड़ना होता है। ये सभी तत्त्व कांगड़ा लोक-नाट्य, परम्परा के अन्तर्गत भगत में उपलब्ध होते हैं। 'भगत' को अभिनीत करने वाले पात्र निम्न वर्ग के लोग होते हैं। मंचीकरण के समय कृष्ण की झांकी के प्रदर्शन के साथ ही सखियों का अभिनय प्रारम्भ होता है। कृष्ण की मुरली की छल, कपट की क्रिड़ाएं प्रारम्भ हो जाती हैं। उसी समय 'मनसुखा' जिस की क्रिड़ाएं, चेष्टाएं विदूषक जैसी होती हैं। श्वेत रंग की लम्बी दाढ़ी, झोली, मैला जैसा लम्बा कुरता और लंगड़ाते हुए चल कर वह दर्शकों को हंसाता हुआ लोट पोट करता है। बस इतना ही सामान्य उसका वेश परिधान होता है। उसकी मुख्य कला सखियों से वार्तालाप है जिस में छल और धुर्तता भरी होती है जिस की कुशल अभिव्यंजना में ही 'भगत' का रस परिपाक निहित रहता है। 'भगत' के रंगमंच का सम्बन्ध मालवा के 'माच' से जुड़ता है। 'माच' प्रायः खुली भूमि के ऊंचे स्थान पर अथवा तख्ता बिछा कर किए जाते हैं। अभिनेता मंच के पास से ही कपड़े बदल कर आते हैं और स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। ढोलक की थाप पर गीत गान होता है। भगत में यही सब बातें निहित हैं। चारपाई खड़ी कर

के, उस पर चादर डाल कर नेपथ्य रचना होती है। घर का आंगन ही भगत का मंच होता है। कई बार लोग अपनी मनौती पूरी होने पर इसका मंचीकरण घर में करवाते हैं। लोगों को भोजन करवाया जाता है, सम्बन्धी, अतिथि जन बुलाए जाते हैं। इस प्रकार भगत को धार्मिक कृत्य के साथ परिबद्ध किया जाता है। दर्शकों को भी परदे का न्यून अथवा अभाव तनिक भी नहीं खटकता है। उनका केवल मात्र ध्यान सखियों और मनसुखे के वार्तालाप कथोपकथन पर ही रहता है। आधी रात तक तो यह हास परिहास चलता है और फिर उसके पश्चात् मुजरा और कोई नाटक, सम्बाद, आदि प्रारम्भ किया जाता है। यह नाटक प्रातःकाल में जा कर कहीं समाप्त होता है। प्रकाश के लिए लकड़ी के साथ चिथड़े बान्ध कर आटा लगा कर मशालें तैयार की जाती हैं। लोहे की कड़ाही या परात में पानी भर कर मिट्टी का तेल डाल दिया जाता है। मशालची दोनों हाथों में उन्हें पकड़ कर उन्हें कड़ाही में डुबोता, सारी रात प्रकाश करता खड़ा रहता है।

कांगड़ा लोक-नाट्य परम्परा में चन्दरौली गीति नाट्य परम्परा शैली में आता है। यह भी भगत से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस में गीत गाते हुए चन्दरौली और डंडू नृत्य करते हैं और अपने हाव भाव से दर्शकों का मनोरंजन करते हैं। पुरुष पात्र ही स्त्री पात्र के रूप में चन्दरौली बनता है और स्त्री के अभिनय करता है। 'डंडू' विदूषक की भान्ति से विशिष्ट वेष-भूषा में खड़मस्तियां करता है और लोगों को हंसाता है। कांगड़ा नाट्य परम्परा में यह विशिष्ट नाट्य 'भगत' के समान चन्दरौली इस प्रदेश की अपनी मौलिक नृत्य शैली है।

कांगड़ा लोक-नाट्य परम्परा में 'स्वांग एक अन्य शैली है। इसका सम्बन्ध सप्त सिन्धु के आर्यों से जुड़ता है जिस में स्त्रियां अपने मुख पर रंग का लेप कर नृत्य किया करती थीं। आज भी कांगड़ा प्रदेश में बारात के चले जाने पर स्त्रियों की वह रूपहली, सुनहली रात आ जाती है जबकि वे जी भर कर नाचती हैं। कई प्रकार के स्वांग भी बनती हैं। होलियों के अवसर पर सुजानपुर और पालमपुर में कई प्रकार के स्वांग निकलते हैं।

कांगड़ा लोक-नाट्य की इन परम्पराओं के लोक-नाट्य के दोनों ही रूप (1) प्रहसनात्मक और (२) नृत्य नाट्यात्मक उपलब्ध हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र की लोक-नाट्य परम्परा शुद्ध रूप में अपने में परिपूर्ण है। जिस प्रकार से राजस्थान में ख्याल, मालवा में माच, उत्तर प्रदेश में नौटंकी, स्वांग, भगत, गुजरात में भवाई, बंगाल में जात्रा गंभीरा, महाराष्ट्र में तमाशा, ललित गौंधल, बहुरूपिया, दक्षिण भारत तामिल, केरल में यक्षगान, तेलगु में वीथि भागवतम्, कृष्ण-लीला, राम-लीला, आदि प्रचलित हैं उसी प्रकार कांगड़ा, त्रिगर्त प्रदेश में भगत, चन्दरौली और स्वांग प्रचलित हैं। अन्त में महाकवि कालीदास की यह पंक्ति कि—

'नाट्यं भिन्नरुचीर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।'

अर्थात् नाटक विभिन्न प्रकार की रुचि रखने वाले मनुष्यों के मनोरंजन का अद्वितीय साधन है।

★

बिलासपुरी जनपद तथा विवाह गीत

—जगदीश चन्देल

किसी भी प्रदेश की अपनी-अपनी भाषा एवं संस्कृति होती है, हर एक प्रदेश अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को आगे बढ़ाना चाहता है, इस संस्कृति में कुछ न कुछ आशय छुपा होता है। सब प्रदेशों की अपनी सस्कृति है परन्तु हिमाचल प्रदेश की भारत के अन्दर अपनी अलग संस्कृति और रीति रिवाज हैं, हिमाचल के रीति रिवाज और संस्कृति अभी तक खत्म नहीं हुई है और न होगी, अब तो हमारी हिमाचल सरकार इस तरफ काफी ध्यान दे रही है ताकि यहां की संस्कृति वैसी की वैसी बनी रहे। अभी तक तो शहरों में भी वही रीति रिवाज हैं गांव का तो कहना ही क्या, गांव के लोग अपनी संस्कृति से इतना प्यार करते हैं कि यदि उन्हें कोई संस्कृति के एक पद को भी छोड़ने को कहे तो वे कभी नहीं मानेंगे।

हिमाचल की संस्कृति में जिला बिलासपुर का अपने रीति रिवाज और प्रथाओं का अपना अलग स्थान है, अपने रिवाजों के बिना यहाँ के लोग एक कदम भी आगे पीछे नहीं चलते. वैसे तो संस्कृति के अन्दर बहुत सी बातें आ जाती हैं परन्तु मैं तुम्हारे सामने लड़कियों की शादी में गाये जाने वाले बिलासपुरी लोक-गीतों का वर्णन करूंगा।

बिलासपुर जिले के अन्दर शादी से ५–७ दिन पहले ही गाने बजाने का काम शुरू हो जाता है, जब तक कोई शादी का गाना न गाया जाये तब तक शादी का कोई भी काम शुरू नहीं किया जाता और गांव की औरतें तब तक नहीं आती जब तक लड़की की माता उनको बुलाने न जाये। जब लड़की की माता उन्हें बुलाने जाती है तो वह एक दम तैयार होकर एक दो औरतें मिल कर दरवाजे से निकलते ही पुरोहित को शादी वालों के घर आते देख कर शुरू करती हैं :

किधर देशां ते आया पुरोहितया किधर देशा जो जाना,
उत्तर देशा ते आया लोको दखन देशा जो जाना।
किती पई गईयां रहना पुरोहितया किती हो गई बेसेरे,
उत्तर पई गईयां रहना लोको दखनन पई गई बसेरे,
कजो तूं आया पुरोहितया क्या करी के जाना वे।
ब्याह पढ़ने आया लोको ब्याह कराई के चले जाना वे।

हे पुरोहित आप यहां किस लिए और क्या करने आये हो, तब पुरोहित उत्तर देता है कि मैं शादी पढ़ने के लिए आया हूं और शादी खत्म होने पर मैंने चले जाना है।

इस तरह जब पुरोहित अन्दर चला जाता है और लड़की को अपने पास समूत पढ़ने तथा कंगना बांधने के लिए बुलाता है और लड़की आकर पुरोहित के पास बैठ जाती है। लड़की को चिन्ता में देख कर :

कांगना बानया पुआदया कांगना बानया,
कुड़िया खेले जो जाना वे हां।
कांगना बानया पुआदया।

पुरोहित जी लड़की को जल्दी से कांगना (रूई का धागा) बांध दो, लड़की ने खेलने के लिए जाना है।

इसके बाद फिर बटना लगाते हैं :

दो बनजारू मैं बटने जो भेंजे से बनजारू न आये,
थोड़ा थोड़ा बटना मेरी सहियां जो देयों और मलो अंग मेरे,
दो तेली मैं तेले जों भेजे से तेली न आये,
थोड़ा थोड़ा तेल मेरे भाईयों जो देयों और मलो अंग मेरे।
दो बनजारू मैं बटने जो भेजे से बनजारू न आये।

दो बनजारे (चूड़ियां पहनाने वाले) और दो तेली मैंने बटने और तेल को भेजे हैं, वह दोनों अभी तक वापिस नहीं आये जब आ जायेंगे तो थोड़ा-थोड़ा तेल और बटना मेरी सहेलियों और भाइयों में बांट देना बाकी मेरे शरीर में लगा देना।

फिर पुरोहित के कहने पर लड़की को नहाने बाहर निकालते हैं और जब तक लड़की की बहन लोटा में पानी लेकर उसे गिराती हुई आगे नहीं चलती तब तक लड़की को बाहर नहीं निकाला जाता इस पर :

सेवल कुड़िया दिये भहने,
कुड़िया नौंन संजोना।
सेवल कुड़िया दिये भहने।

अर्थात् हे लड़की की बहन आप लोटा में पानी लेकर उसे गिराते आगे चलो, लड़की नहाने जा रही है।

नहाने के बाद मिट्टी के छोटे बर्तन (तंग्यारे) में सरसों और आग डाल कर पूजा की जाती है। तब :

तिल-तिल तिड़कया सेतीये सरूयें,
कुड़िया जो देया बधाईयां वे हां
तिल-तिल तिड़कयां सेती सरूयें।

हे सेती सरसों आप आग के बीच में अच्छी तरह जलना और अपनी शुभ कामनायें हमारी लड़की को देना।

इस तरह पांच सात दिन गाने बजाने के बाद एक दिन लड़की को ब्याहने आ जाते हैं। बारात और दुल्हे को देख कर लड़की की ओर से औरतें कहती हैं :

अम्बू तले डेरा लाया अम्मा यह कौन सा जोगी,
जोगी न बोलयो धीये मेरी यह वो वर तेरा।

लड़की माता से पूछती है कि माता जी यह आम के पेड़ के नीचे कौन योगी बैठा है, तो माता कहती है बेटी यह योगी नहीं है परन्तु यह तेरा वर है।

इसके बाद सांद का समय होता है, बारात वालों को खाना खिलाने तथा लड़की को उनके घर का तेल डलवाने के लिए बुलाया जाता है। आते बारातियों का बड़ी अच्छी तरह आदर सत्कार होता है और वह खाना खा कर तथा दुल्हे का बाप लड़की को तेल डाल कर वापिस डेरे में चले जाते हैं। इसके बाद लग्न का समय आता है और दुल्हे के साथ बारातियों को बुलाया जाता है, दुल्हे को लेकर बाराती लग्न के लिए आते हैं। वेद में बैठने से पहले दुल्हा अन्दर जाता है तब औरतें आदर और प्रेम सहित कहती हैं :

अन्दरे आओ लाड़ेया अन्दरे आओ,
कला ही आया और सौंगी कां नी लाया,
अन्दरे आओ लाड़या अन्दरे आओ।

हे दुल्हा साहिब आप अन्दर आ जाओ, आप अकेले ही आये अपने साथ के लिए और क्यों न लाये। अन्दर बैठते ही पूछती हैं :

कजो आया तूं सलोनी जोगी बन के पहाड़ी जोगी बन के,
क्या मंगदा दान तूं क्या मंगदा दखना नी।
मेरे सौरे री लड़की क्वारी वोही मंगदा दान वोही मंगदा दखना।

आप यहां एक पहाड़ के योगी बन कर किस लिए आये हो और आपको क्या दान और दक्षिणा चाहिए। दुल्हा कहता है कि मेरे ससुर के एक लड़की क्वारी है वही मुझे दान और दक्षिणा चाहिए और कुछ नहीं चाहिए।

इसके बाद दुल्हा बाहर आ जाता है और वेद के बीच बैठ जाता है। तब औरतें दुल्हे की तरफ से कहती हैं :

बाहरे आओ मेरी श्याम सुन्दरी,
कृष्ण लग्ने जो आया वे।
मैं कियां आऊं मेरे कृष्ण प्यारे,
बाहरे साहबा दे डेरे वे हां।
बाबा तेरा से सौरा मेरा,
उस ते क्यों सरमांदी वे।

दुल्हा कहता है कि हे वधू आप अब बाहर निकल आओ, अब आपका कृष्ण रूपी वर लग्न के लिए आ गया है। दुल्हन कहती है कि मैं बाहर कैसे आ सकती हूं बाहर तो बहुत से लोग बैठे हैं। तब दुल्हा कहता है कि जो तेरा पिता यहां बैठा है वह मेरा भी ससुर है उससे आप क्यों शर्मिन्दा हो रही हैं।

लग्न के बाद कन्यादान का समय आ जाता है और सब को कन्यादान डालने के लिए पुरोहित पुकारता है :

कन्यादान गंगा दा स्नान,
कन्यादान गंगा दा स्नान।

पुरोहित की इस ध्वनी को सुन कर लोग कन्यादान जल्दी आकर डाल देते हैं। इस तरह सवेरा हो जाता है और बारातियों को सुबह का नाश्ता खाने के लिए बुलाते हैं। बाराती आ 'जाते हैं और खाने के लिए बैठ जाते हैं, वह समय बड़े मजे का होता है। औरते खाना खाते बारातियों को देख कर उनकी तरफ इशारा करती हुई कहती हैं :

थोड़ियां खाम्रो जनेतियो थोड़ियां खाम्रो,
कारज लगया तूसी थोड़ियां खाम्रो।
लाड़े रा बाबा भूखा ही चली म्राइरा
पत्तल खाइया सने तुलिये।

बरातियो आप थोड़ा खाना खायें, यह शादी है कोई यज्ञ नहीं है। दुल्हे के पिता जी तो पत्तल (जिस में चावल दिए जाते हैं) को समेत लकड़ियों के हजम कर गया है :

लाड़े दा पेट बड़ा चकूना खांदा पेटा ते बी दूना,
इसजो भ्रौर देई दो जी यह सात दिना दा भुखा जी।

हे चावल बांटने वाले दुल्हे का पेट बड़ा चौड़ा है और यह पेट से भी दुगना खाता है, सात दिन का भूखा होने के कारण इसको चावल अच्छी तरह देना।

इन गालियों को सुनकर बाराती एक दूसरे से बात करने लग जाते हैं और ऐसी गालियां सुनकर हंसने भी लग जाते हैं। आपस में बात करते और हंसते हुए देखकर औरतें कहती हैं :

जनेतियो बहुत न गलायों, भ्रसां जो नी डरायों,
खांगे छट्टियां री मार रगड़ने गोडेयां दे भार,
हल्लीं भी भ्रप्पूं जो सम्भाला म्हारी गल न बगाड़ा।

बारातियो ज्यादा बातें न बनाओ नहीं तो हम आपको लाठी से मारेंगी और आपको घुटनों के बल रगड़ा जाएगा।

इसके बाद खाना खाकर सब बाराती डेरे में चले जाते हैं और लड़की को ससुराल भेजने की तैयारी शुरु हो जाती है और शाम के समय दुल्हे को लड़की की तैयारी के लिए बुलाया

जाता है और उनके घर से लाये गहने, कपड़े दुल्हे के हाथों से दिलवाकर लड़की को पहनाए जाते हैं और लड़की के सिर में मांग (बालों को इधर-उधर करने पर जो रेखा बनती है) निकाली जाती है और सन्दूर भरा जाता है, तब औरतें कहती हैं :

सिदिया भरेआं लाड़ेया स्यांदियां अपनीया अम्मा देया जाया,
बादाम न गिरायां छुहारे जो न मिलायां कुंगू दी सेब लगायां,
सीदिया भरेआं लाड़ेया स्यांदियां सीदिया भरेआं स्यांदियां।

हे दुल्हे लड़की की स्यांदी के बीच सिन्दूर अच्छी तरह लगाना, सिन्दूर इस तरह लगाना कि बादाम नीचे न गिरे और छुहारा और बादाम आपस में न मिले क्योंकि बादाम और छुहारे (फल) को अंगूठे के बीच रखकर सन्दूर लगाया जाता है :

जीजा रिन मसरा दी दाल मसाला मैं देंदी.
जीजा कर माइया दा दान कि बाबा मैं देंदी।
जीजा रिन मसरा दी दाल कि मसाला मैं देंदी,
कर चाची दा दान तूं चाचा मैं देंदी।
कर भहना बा दान तूं जीजा मैं देंदी जी।

जीजा जी आप मसुर की दाल पकाओ और दाल के लिए मसाला हम देती हैं यदि दाल आपसे न पके तो अपनी माता, चाची और बहन का हमें दान कर दो और हम आपको पिता, चाचा और जीजा जरूर देंगी :

जीजा जी सरदारा तेरा बाबा सूनी दा क्वारा,
किथे जन्मयों मेरा जीजा जी।
स'लियो छनी दे ऊपर ढपनी मेरी मां बड़ी नटनी,
क्या दसूं किथे जन्मयों मेरी सालियो।

सालियां जीजा से पूछती हैं कि हे जीजा जी हमने सुना है कि तेरा बाप अभी तक क्वारा ही है तो आप बतायें कि आपने जन्म कहां लिया हुआ है तब जीजा कहता है कि इसका मुझे कोई पता नहीं इसका मेरी माता को ही पता होगा :

इयां बनू जीजा मेरया जियां भेडू बनया खुड़लिया,
तां छड़ू जीजा मेरया जे माओ जो देंगा अपनीया।
इयां बनू जीजा मेरया जियां भेडू बनया खुड़लिया,
तां छड़ू जीबा मेरया चाची, भहना देंगा अपनीया।

सालियां जीजा को कहती हैं कि जीजा जी आपको ऐसा बांधा जायेगा जिस प्रकार से मेढ़ा लकड़ी के साथ बांधा जाता है और तब तक नहीं छोड़ा जायेगा जब तक अपनी मां, चाची और बहन को हमारे हवाले न करेगा।

इस तरह और अनेक प्रकार की गालियां गाई जाती हैं परन्तु यह गालियां प्रेम भाव की होती हैं इनका किसी भी पक्ष वाले बुरा नहीं मानते बल्कि खुश होते हैं।

इसके बाद दुल्हा बाहर चला जाता है और लड़की के दहेज का सामान बाहर निकाला जाता है। तब लड़की तरफ से औरतें कहती हैं :

पुत्त बनके कमाया मैं घर तेरे कमाया मैं घर तेरे,
कि दाज दइने तोरा पालकी बाबा जी।
भाई बनके कमाया जी भाईया मेरया,
कि दाज देयां रजी रजी ने भाईया मेरया।

पिता जी मैंने आपके घर में आपके लड़कों की तरह काम किया है इसलिए मुझे दहेज देकर पालकी में बैठाकर भेज दो। भाई जी मैंने आपके साथ भाई बनकर काम किया है इसलिए मुझे बहुत दहेज देना :

अज होई जी अम्मा नेहरे ते चाननी,
अज लाईदे अम्मा बाबे दिया वो खटिया।
जन्दे चढ़ी रे बेटा कुंडे लगी रे बेटा
तेरे बाबे रे बक्से।
जन्देयां वो तोड़ी वो देयां कुंडयां मोड़ी वो देयां बाबें दे बक्से।
अज होई जी अम्मा नेहरे ते चाननी।

माता जी आज आपके घर में अन्धेरे से चान्दनी हो गई है अर्थात् आज आपके सारे फिकर दूर हो गए हैं। आज पिता जी की सारी कमाई को यहां लगा दें, माता कहती है कि बेटा तेरे पिता जी के बक्सों में ताले और कुन्डे लगे हुए हैं मैं क्या कर सकती हूं, तब लड़की कहती है कि हे माता जी, पिता जी के बक्सों के तालों और कुन्डों को तोड़-मरोड़ दो।

इसके बाद बारात चल पड़ती है। बाजे वाले और औरतें गाना शुरु करती हैं :

तेरयां महलां दे अन्दर वे बाबा मेरया डोला अड़या,
तेरे डोले टपाई देंगा वे नी धीये घर जा अपने।
तेरी उच्चीयां परौलियां च बाबा मेरा डोला अड़या,
इक ईट छुड़ाई देंगा नी धीये घर जा अपने।
तेरे महलां दे अन्दर वे बाबा मेरी अम्मा ताई रोये,
तेरी अम्मा ताई जो चुप करांगा धीये घर जा अपने।
तेरयां महलां दे अन्दर वे बाबा मेरी गुड़ियां रहियाँ,
तेरी गुड़ियाँ तेरी सहियां जो देंगा नी धीये घर जा अपने।
तेरे महलां दे अन्दर वे बाबा मेरा डोला अड़या।

जाता है और उनके घर से लाये गहने, कपड़े दुल्हे के हाथों से दिलवाकर लड़की को पहनाए जाते हैं और लड़की के सिर में मांग (बालों को इधर-उधर करने पर जो रेखा बनती है) निकाली जाती है और सन्दूर भरा जाता है, तब औरतें कहती हैं :

सिदिया भरेआं लाड़ेया स्यांदियां अपनीया अम्मा देया जाया,
बादाम न गिरायां छुहारे जो न मिलायां कुंगू दी सेब लगायां,
सीदिया भरेआं लाड़ेया स्यांदियां सीदिया भरेआं स्यांदियां ।

हे दुल्हे लड़की की स्यांदी के बीच सिन्दूर अच्छी तरह लगाना, सिन्दूर इस तरह लगाना कि बादाम नीचे न गिरे और छुहारा और बादाम आपस में न मिले क्योंकि बादाम और छुहारे (फल) को अंगूठे के बीच रखकर सन्दूर लगाया जाता है :

जीजा रिन मसरा दी दाल मसाला मैं देंदी,
जीजा कर माइया दा दान कि बाबा मैं देंदी ।
जीजा रिन मसरा दी दाल कि मसाला मैं देंदी,
कर चाची दा दान तूं चाचा मैं देंदी ।
कर भहना दा दान तूं जीजा मैं देंदी जी ।

जीजा जी आप मसुर की दाल पकाओ और दाल के लिए मसाला हम देती हैं यदि दाल आपसे न पके तो अपनी माता, चाची और बहन का हमें दान कर दो और हम आपको पिता, चाचा और जीजा जरूर देंगी :

जीजा जी सरदारा तेरा बाबा सूनी दा क्वारा,
किथे जन्मयों मेरा जीजा जी ।
सलियो छनी दे ऊपर ढपनी मेरी मां बड़ी नटनी,
क्या दसूं किथे जन्मयों मेरी सालियो ।

सालियां जीजा से पूछती हैं कि हे जीजा जी हमने सुना है कि तेरा बाप अभी तक क्वारा ही है तो आप बतायें कि आपने जन्म कहां लिया हुआ है तब जीजा कहता है कि इसका मुझे कोई पता नहीं इसका मेरी माता को ही पता होगा :

इयां बनू जीजा मेरया जियां भेडू बनया खुड़लिया,
तां छडू जीजा मेरया जे माओ जो देंगा अपनीया ।
इयां बनू जीजा मेरया जियां भेडू बनया खुड़लिया,
तां छडू जीजा मेरया चाची, भहना देंगा अपनीया ।

सालियां जीजा को कहती हैं कि जीजा जी आपको ऐसा बांधा जायेगा जिस प्रकार से मेढ़ा लकड़ी के साथ बांधा जाता है और तब तक नहीं छोड़ा जायेगा जब तक अपनी मां, चाची और बहन को हमारे हवाले न करेगा ।

इस तरह और अनेक प्रकार की गालियां गाई जाती हैं परन्तु यह गालियां प्रेम भाव की होती हैं इनका किसी भी पक्ष वाले बुरा नहीं मानते बल्कि खुश होते हैं।

इसके बाद दुल्हा बाहर चला जाता है और लड़की के दहेज का सामान बाहर निकाला जाता है। तब लड़की तरफ से औरतें कहती हैं :

पुत्त बनके कमाया मैं घर तेरे कमाया मैं घर तेरे,
कि दाज दइने तोरा पालकी बाबा जी।
भाई बनके कमाया जी भाईया मेरया,
कि दाज देयां रजी रजी ने भाईया मेरया।

पिता जी मैंने आपके घर में आपके लड़कों की तरह काम किया है इसलिए मुझे दहेज देकर पालकी में बैठाकर भेज दो। भाई जी मैंने आपके साथ भाई बनकर काम किया है इसलिए मुझे बहुत दहेज देना :

अज होई जी अम्मा नेहरे ते चाननी,
अज लाईदे अम्मा बाबे दिया वो खटिया।
जन्दे चढ़ी रे बेटा कुंडे लगी रे बेटा
तेरे बाबे रे बक्से।
जन्देयां वो तोड़ी वो देयां कुंडयां मोड़ी वो देयां बाबें वे बक्से।
अज होई जी अम्मा नेहरे ते चाननी।

माता जी आज आपके घर में अन्धेरे से चान्दनी हो गई है अर्थात् आज आपके सारे फिकर दूर हो गए हैं। आज पिता जी की सारी कमाई को यहां लगा दें, माता कहती है कि बेटा तेरे पिता जी के बक्सों में ताले और कुन्डे लगे हुए हैं मैं क्या कर सकती हूं, तब लड़की कहती है कि हे माता जी, पिता जी के बक्सों के तालों और कुन्डों को तोड़-मरोड़ दो।

इसके बाद बारात चल पड़ती है। बाजे वाले और औरतें गाना शुरु करती हैं :

तेरयां महलां दे अन्दर वे बाबा मेरया डोला अड़या,
तेरे डोले टपाई देंगा वे नी धीये घर जा अपने।
तेरी उच्चीयां परौलियां च बाबा मेरा डोला अड़या,
इक ईट छुड़ाई देंगा नी धीये घर जा अपने।
तेरे महलां दे अन्दर वे बाबा मेरी अम्मा ताई रोये,
तेरी अम्मा ताई जो चुप करांगा धीये घर जा अपने।
तेरयां महलां दे अन्दर वे बाबा मेरी गुड़ियां रहियाँ,
तेरी गुड़ियाँ तेरी सहियां जो देंगा नी धीये घर जा अपने।
तेरे महलां वे अन्दर वे बाबा मेरा डोला अड़या।

पिता जी आपके ऊंचे मकान के बीच में मेरी पालकी रुक रही है, पिता कहता है कि बेटा मैं एक ईंट छुड़ा लूंगा, परन्तु आप चुपके से अपने घर चली जाओ इस तरह लड़की चाची, ताई, माता, सहेलियों तथा गुड़ियों की याद करती है तब भी उसके पिता जी कहते हैं कि बेटा तेरी चाची, ताई, माता और सहेलियों को मैं चुप कर लूंगा और गुड़ियां आपकी सहेलियों को दे दूंगा परन्तु आप चपके से अपने घर चली जाओ।

इस तरह बारात चली जाती है और लड़की के घर वालों को बड़ा दुःख होता है। दुःख होता भी ठीक है क्योंकि मां-बाप लड़की को इतने दिन बड़े लाड़-प्यार से पालते हैं परन्तु आखिर वह पराई हो जाती है।

इस प्रकार से बिलासपुर में सारी शादी लोक-गीतों की मधुर ध्वनि से प्रेम सहित सम्पन्न हो जाती है।

हि० प्र० भाषा विभाग,
धर्मशाला, (कांगड़ा)।

●★●

हिमाचल प्रदेश में शाक्त धर्म का विकास

–डा० लालता प्रसाद पाण्डेय

हिमाचल में शक्ति की पूजा बहुत पहले से प्रचलित मालूम होती है। इसके विकास में शैव धर्म ने विशेष रूप से योगदान दिया। प्राचीन काल में पार्वती को शिव की धर्मपत्नी के रूप में प्रकल्पित किया गया था और उसकी पूजा शिव के साथ-साथ की जाती थी। वैसे इस पर्वतीय क्षेत्र में हेमवती की पूजा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह नगाधिराज हिमालय की पुत्री थी और कैलाशपति शिव उसका पति था, जिसे हिमालय का संरक्षक देवता माना जाता है।

भारत में मातृदेवी की पूजा सैन्धव घाटी सभ्यता में ही प्रचलित थी। वह उस समय जनन-क्रिया की देवी मानी जाती थी। उस समय उसकी मूर्तियों और उसके विभिन्न प्रतीकों की कल्पना की गई थी। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा तत्सम्बन्धी अन्य सांस्कृतिक स्थानों से मातृ-देवी की मृण्मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जो उसकी पूजा के साधन थे। कहीं से साथ ही साथ चक्राकार प्रतीक भी मिले हैं, जिन्हें शक्ति का प्राचीन रूप स्वीकार किया जाता है। ऐसे प्रतीक उत्तर भारत के विभिन्न ऐतिहासिक केन्द्रों से भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें छठी शताब्दी ई०पू० के आस-पास की शताब्दियों में बना बताया जाता है।

वैदिक साहित्य में भी कई देवियों का उल्लेख किया गया है। इनमें श्री, लक्ष्मी, वाक्, सरस्वती (नदी का देवी रूप) तथा पृथ्वी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उमा हेमवती की भी चर्चा उत्तर वैदिक साहित्य में की गई है और सूत्र साहित्य की रचना के समय तो उसका संसर्ग शिव के साथ कर ही दिया गया था। इस तरह बढ़ते हुए शैव धर्म के संसर्ग में आने से और देवी को शिव की अर्द्धांगनी रूप में कल्पित करने में शक्ति पूजा के प्रचार और प्रसार में काफी मदद मिली है, इस में दो मत नहीं हैं।

विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों के सम्पर्क में आने के कारण शक्ति उपासना में विविध पक्षों का विकास हुआ। यह पहले एक मां के रूप में कल्पित की गई। उसे संसार की उत्पत्ति का कारण माना गया। इससे उसके सौम्य रूप का प्रचलन हुआ। बाद में उसे सृष्टि की संरक्षिका स्वीकार किया गया और समय आने पर उसे आसुरी शक्तियों की विनाशकारिणी भी माना गया। इस तरह उसके व्यक्तित्व में एक भयानक रूप की भी कल्पना की गई। अतः उमा तथा पार्वती के साथ-साथ दुर्गा, चंडी, काली, कराली, महाकाली, चामुण्डा तथा महिषमर्दिनी आदि नाम दिये गये। बाद में उसके इन रूपों को उसकी मूर्तियों में यथा स्थान दिया गया और ऐसी अनेक मूर्तियां बनाई गईं जिनमें उसका यह रूप प्रदर्शित किया गया। विद्वानों का कहना है कि देवी की इस प्रकार की कल्पना में विभिन्न लोगों एवं पर्वतीय घाटियों तथा जंगलों में रहने वाली आदि-जातियों के धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं ने अधिक योगदान दिया और उसकी पूजा-विधियों, क्रियाओं तथा

साधनाओं में उनके जादू-टोनों तथा रुढ़ियों ने अपना स्थान बना लिया। धीरे-धीरे वे शक्ति-उपासना के अभिन्न अंग बन गये।

इन्हीं कारणों से हिमाचल में शक्ति की उपासना बड़े जोरों से प्रारम्भ हुई। गुप्त काल इसके विकास का एक महत्वपूर्ण युग मालूम होता है, क्योंकि यहां से हमें इस काल की कुछ मूर्तियां तथा मन्दिर मिलते हैं। इनमें से कुछ तो अब नष्ट हो चुके हैं। लेकिन वे अपना कुछ अवशेष छोड़ गये हैं। इससे यहां के शाक्त धर्म के विकास का इतिहास लिखने में मदद मिलती है।

इन शाक्त मन्दिरों में सम्भवतः चम्बा–लाहौल में स्थित भुकुला देवी का मन्दिर सब से प्राचीन है, जो किसी न किसी रूप में अब तक बच गया है। यह मन्दिर लाहौल में एक ऐसे ग्राम में स्थित है, जो मथानाला तथा चन्द्रभागा नामक नदी के संगम पर बसा है। इस ग्राम का प्राचीन नाम मुकुला या मृकुला था, जो बाद में सत्रहवीं शताब्दी में उदयपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि वह उस समय चम्बा नरेश उदयसिंह राजकीय केन्द्र बनाया गया। इस मन्दिर के निर्माण की सही तिथि अज्ञात है। विद्वानों की धारणा है कि वह गुप्त काल में कभी बनवाया गया था, जब पौराणिक हिन्दू धर्म में शाक्त सम्प्रदाय अपने विकास पर था। कहा जाता है कि कश्मीर नरेश अनन्तदेव की पत्नी सूर्यमति ने ग्यारहवीं शताब्दी में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। बाद में मध्य काल में जब इस क्षेत्र में लामा बौद्ध धर्म का विकास हुआ तो इसे एक बौद्ध मन्दिर में बदल दिया गया और देवी दुर्गा के स्थान पर मारीची वज्रवाराही की पूजा होने लगी। फिर भी यह शक्ति उपासना का एक प्रसिद्ध केन्द्र निरन्तर बना रहा। आज कल यहां एक अष्टधातु निर्मित दो फीट ऊंची मूर्ति पूजी जाती है, जिसे बौद्ध लोग दोरजे फांग मो (वज्रवराही) कहते हैं।

आधुनिक मन्दिर नये और पुराने निर्माण का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। पुराने अवशेषों में इसके द्वार-बिम्ब के साथ उसके मण्डप की छत तथा उसके चार स्तम्भ गिने जाते हैं और मन्दिर का अवशिष्ट भाग मध्य कालीन माना जाता है। बाहर में देखने में तो यह उतना आकर्षक नहीं है, जितना कि यह अन्दर से सुन्दर है। इसके भीतरी छत और इसकी दीवारों पर काष्ठ में रामायण और महाभारत के अनेक कथानकों और चरित्रों का बड़ी सुन्दरता से अंकन किया गया है।

हिमाचल के अन्य प्राचीन मन्दिरों में चम्बा–भरमौर क्षेत्र के तीन मन्दिर तथा कांगड़ा के कुछ मन्दिर उल्लेखनीय हैं, जब कि शाक्त पूजा के केन्द्र इस प्रदेश के प्रायः हर भाग में बिखरे थे। लेकिन दुर्भाग्य से अन्य प्राचीन शाक पीने के अवशेष अब उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से अधिकाश के स्थान पर मध्य काल में या आधुनिक काल में नये मन्दिरों का निर्माण कराया गया जान पड़ता है।

चम्बा–भरमौर के शाक्त-निर्माणों में लक्षणा देवी का मन्दिर तथा छतरारी का शक्ति मन्दिर उल्लेखनीय है। इन अवशेषों के साथ दुर्गा की तथा अन्य अनेक मूर्तियां गिनाई जा सकती हैं, जो इस क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं।

लक्षणा देवी का मन्दिर सब से प्राचीन है। इसे मेरु वर्मा ने आठवीं शताब्दी ई० में बनवाया था। इसमें तीन भीट चार इंच ऊंची महिषमर्दिनी दुर्गा की अष्टधातु की एक भव्य मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिस में देवी को महिषासुर नामक राक्षस को मारते हुए दिखाया गया है। यह मूर्ति बड़ी ही सुन्दर एवं जानदार है और हिमाचल की प्राचीन मूर्तियों में अपना एक विशिष्ट स्थान

रखती है। इसे गुग्गा नामक कलाकार ने बड़ी मेहनत से बनाया था, जैसा कि इसकी वेदिका पर लिखे अभिलेख से ज्ञात होता है। यह मन्दिर देखने में छोटा है। लेकिन सुन्दरता की दृष्टि से हिमाचल के प्रमुख मन्दिरों में गिना जाता है। यह उत्तर भारत की नागर शैली में बना है, जिस के शिखर पर एक छतरी रखी हुई दिखाई गई है, जो पर्वतीय मन्दिरों की एक विशेषता है। इसके द्वार का निर्माण लकड़ी से किया गया है और मन्दिर के भीतर काष्ट में रचित कारीगरी विशेष रूप से दर्शनीय है। द्वार पर अंकित गंगा–यमुना की मूर्तियां तथा ललाट-बिम्ब पर निर्मित अन्य मूर्तियां तथा अलंकरण मन्दिर की शोभा बढ़ाते हैं। इसी प्रकार अन्दर भी वह मूर्तियों तथा अन्य प्रकार के उकेरे गये अलंकरण से सुसज्जित है। विद्वानों ने इसमें प्राप्त कला को प्राचीन भारत की उच्च कोटि की कला में गिना है और उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा की है। इसे गुप्त-कालीन सुन्दर मूर्तियों के समकक्ष माना गया है और इन में से कुछ पर युनानी कला का भी प्रभाव देखा गया है।

चम्बा और भरमौर के बीच छतरारी नामक स्थान पर निर्मित शक्ति देवी का मन्दिर यहां का दूसरा प्रधान शाक्त केन्द्र है। इस में भी अष्टधातु से बनी दुर्गा की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। इस मन्दिर को भी गुग्गा नामक शिल्पकार ने बनाया था, अतएव इसकी निर्माण शैली तथा बनावट लक्षणा देवी के मन्दिर से भिन्न नहीं है। उसकी तरह यह भी अन्दर की तरफ पौराणिक मूर्तियों से बहुविध अलंकृत है।

इस क्षेत्र से मिली दुर्गा की कुछ मूर्तियां भी यहां उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ वासु परगना में स्थित तुर नामक स्थान से कुछ शाक्त मूर्तियां मिली हैं, जिनमें चतुभुज देवी की बड़ी प्रस्तर मूर्ति विशेष रूप से दर्शनीय है। हो सकता है कि यहां भी कभी शक्ति मन्दिर विद्यमान रहा हो। बेरा परगना में स्थित देवी कोठी नामक स्थान भी एक शाक्त पीठ मालूम पड़ता है, जैसा कि स्थान के नाम से ही द्योतित होता है।

कांगड़ा क्षेत्र में शक्ति की पूजा अधिक प्रचलित मालूम होती है। यहां के कई प्राचीन शाक्त मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। हरमनगोएट्ज ने भवानी मन्दिर के प्रांगन में मिलने वाली दशभुजी देवी (मारीची ?) को सातवीं शताब्दी में बना बताया है। हरिपुर में दशमुखी देवी की काष्ठ प्रतिमा को भी इन्होंने इसी काल में रखा है। कांगड़ा के किले में निर्मित मन्दिर में अम्बिका देवी की एक मूर्ति मिली थी, जिसे गुप्तोत्तर काल में कभी रखा जा सकता है। इस मन्दिर का अब खण्डहर मात्र मिलता है। लगता है कि इस क्षेत्र में शक्ति पूजा गुप्त काल में प्रचलित की गई थी, जिस का पूर्व मध्य काल में यहां अधिक विकास हुआ। सम्भवतः इसी काल में कोट-कांगड़ा के एक भाग भवन नामक स्थान में निर्मित भवानी मन्दिर को भी रखा जा सकता है। यहां से प्राप्त एक अभिलेख में मन्दिर के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें मिलती हैं, जिस का कुछ भाग शारदा लिपि में लिखा है और बाद का आधा भाग देवनागरी में लिखा है, जो पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखाया गया था। लेख में यहां प्रतिष्ठित देवी को ज्वालामुखी नाम दिया गया है। इसे बाद में भवानी भी कहने लगे, जिस की प्रशास्त लेख के प्रारम्भ में उत्कीर्ण है। इसकी रचना राघव नामक सन्यासी ने की थी, जो वेदान्त दर्शन में दक्ष था। काशी से आये पण्डित यहां निवास करते थे और षड-दर्शनों, स्मृतियों तथा यज्ञ विद्याओं का अध्ययन करते थे। यहां के कटोच नरेशों का संरक्षण

इस मन्दिर को सदैव मिलता रहा। इस युग में बने यहां के शाक्त मन्दिरों में व्रजेश्वरी देवी का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है, जो कांगड़ा की संरक्षिका मानी जाती है। इसे प्राचीन काल में वागेश्वरी कहते थे। यहां यह ज्ञातव्य है कि वाक् (वाणी) एक वैदिक देवी थी, जिस का तादात्म्य बाद में दुर्गा से के साथ किया गया। कहा जाता है कि यहां कभी अश्वमेध यज्ञ किया गया था और तभी इस देवी की स्थापना हुई थी। इसे किस ने और कब बनवाया? ये बातें हमें सही तरह से ज्ञात नहीं हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह शाक्त पीठ जगत्प्रसिद्ध था। यहां लोग भारत के विभिन्न विभागों से सहस्त्रों की संख्या में आते थे और देवी के लिए सोने तथा हर प्रकार की अन्य कीमती वस्तुएं दान में देते थे। इसी के परिणामस्वरूप यह मन्दिर अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए अति प्रसिद्ध था। अतएव धन के लोलुप महमूद गजनवी ने १००९ ई० में कांगड़े पर आक्रमण किया और इस मन्दिर में सुरक्षित लाखों स्वर्ण मुद्राओं, सोना तथा अन्य कीमती वस्तुओं को उठा ले गया। कहा जाता है कि उसी ने यहां प्रतिष्ठापित देवी-प्रतिमा को भी हटाया। विद्वानों की यह भी धारणा है कि उसने मन्दिर को भी नष्ट किया और उसके स्थान पर एक मस्जिद का भी निर्माण करवाया गया। बाद में यहां शक्ति मन्दिर की पुनः स्थापना की गई, लेकिन उस मन्दिर का सही रूप फिर न लाया जा सका, जिस की विशालता एवं सुन्दरता के लिए वह प्राचीन काल में चारों ओर प्रसिद्ध था।

यह मन्दिर मध्य काल में हिन्दुओं का एक प्रमुख तीर्थ स्थान बना रहा। कटोच नरेशों का संरक्षण इसे निरन्तर मिलता रहा। इससे मन्दिर की मर्यादा सदैव बनी रही। प्रति वर्ष लाखों यात्रियों के आगमन और दान देने की प्रथा से यह पुनः समृद्ध हो गया। इससे विदेशी लुटेरों और लोलुप मैदानी शासकों की निगाह इस पर पुनः पड़ी। जोनराज की राजतरंगिणी में वर्णन मिलता है कि कश्मीर नरेश शहबुद्दीन ने (१३६३–८६ ए०डी०) सुशर्मपुर (कांगड़ा) के राजा पर आक्रमण किया। इसी तरह दिल्ली नरेश फिरोज तुगलक ने १३६३ ई० में इसे लूटा और शेरशाह के सेना-नायक ख्वास खान ने १५४० ई० में इस पर आक्रमण किया। फिर भी कांगड़ा नगर और मन्दिर अपने विकास की ओर निरन्तर अग्रसर होते रहे। मुगल सम्राट अकबर की कृपा यहां के मन्दिरों की ओर थी। कहा जाता है कि वह कभी टोडरमल के साथ यहां आया था। युरोप के कुछ यात्रियों ने भी इसे इस समय देखा था। उदाहरणार्थ १६११ ई० में विलियम फिन्च कांगड़ा आया था। उसने यहां एक प्रस्तर निर्मित मूर्ति देखी,, जो जयदुर्गा के नाम से प्रसिद्ध थी। उसने उसके मन्दिर का भी उल्लेख किया है। १६१५ ई० में आये युरोप के दूसरे यात्री थामस कोर्यट ने इसे माता की मूर्ति बताया है। १६६६ ई० में फ्रान्सीसी यात्री थेवेंनट भी इसका उल्लेख करता है और कहता है कि नगरकोट की देवी अत्याधिक प्रसिद्ध थी और इससे वहां के ब्राह्मणों को बड़ा लाभ होता था, क्योंकि हजारों यात्री प्रति वर्ष देश के विभिन्न भागों में आकर अनेक वस्तुएं और रुपये-पैसे दान में देते थे।

सिक्खों के काल में भी इस मन्दिर को बड़ी प्रतिष्ठा मिली। महाराजा रणजीतसिंह यहां की देवी में बड़ी आस्था रखते थे। अतः उस समय भी इस मन्दिर को संरक्षण मिलता रहा, जिससे इसके विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं आई।

ज्वालामुखी मन्दिर इस क्षेत्र का दूसरा प्रमुख शास्त केन्द्र है। यह स्थान धर्मशाला से ३४ मील दूर व्यास नदी घाटी में स्थित है। मन्दिर का रूप एक दम आधुनिक है, लेकिन इस स्थान

का एक प्राचीन शाक्त पीठ होना जालन्धर महात्म्य से द्योतित होता है जिसके अनुसार दैत्य जालन्धर के शरीर का एक भाग यहां तक फैला हुआ है । दूसरी पौराणिक कथा के अनुसार दक्षयज्ञ भंग होने के बाद जब शिव सती के मृत शव को लेकर भागे थे तो उसकी जिह्वा इसी स्थान पर गिरी थी, अतः इसे इकावन महाशक्ति पीठों में से एक माना जाता है ।

इस मन्दिर में देवी की कोई मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं की गई है । इसमें केवल एक तीन फीट गहरी वर्गाकार वैदिका ही पूजा की वस्तु है, जिसके चारों तरफ प्रदक्षिणायथ बना हुआ है । अन्य मन्दिरों की भान्ति इसे भी समय-समय पर राज संरक्षण मिलता रहा है । १९वीं शदी के प्रारम्भ में महाराजा रणजीत सिंह ने, जो इस देवी के महान् उपासक थे, इस मन्दिर के गुम्बज को अलंकृत करवाया । इसी तरह एक दूसरे शासक ने चाँदी की पतियों से सुसज्जित इसके द्वारा का निर्माण करवाया । इस प्रकार समय-समय पर देवी को दान मिलते रहे, जिससे इसका विकास निरन्तर होता रहा । इस समय यह एक अत्यन्त जीवित शाक्त स्थान माना जाता है । यहां वर्ष में दो बार मेले लगते हैं और चैत्र माह के नवरात्रों के दिनों में सहस्त्रों भक्त दूर-दूर से देवी का दर्शन करने आते हैं ।

कांगड़ा क्षेत्र में अन्य अनेक शाक्त केन्द्र पाये जाते हैं । धर्मशाला से आठ मील दूर धत्रलाधार के पाद पर बहती बनेर नदी के दाहिने किनारे पर बना चमुण्डा देवी का मन्दिर इस समय विशेष प्रसिद्ध है । इसी प्रकार होशियारपुर तथा धर्मशाला मार्ग पर स्थित भरवैं नामक स्थान से लगभग डेढ़ मील दूर बना चिन्तपूर्णि देवी का मन्दिर भी इस समय अत्यन्त लोकप्रिय है । यह बहुत प्राचीन मन्दिर नहीं मालूम होता है । इसके गुम्बज तथा चौड़े छत इसे आधुनिक सिद्ध करते हैं । यहां प्रस्तर की एक पिण्डी पूजा की वस्तु है । यह छिन्न नास्तीका देवी को प्रदर्शित करती है, जिसने इस रूप में निःशुम्भ राक्षस की हत्या की थी । आज यह एक अत्यन्त जीवित पूजा केन्द्र है, जहां वर्ष भर सहस्त्रों तीर्थ यात्री आकर देवी का दर्शन करते हैं । यहां श्रावण माह में एक विशाल मेला लगता है, जिसमें लोग दूर-दूर से आकर देवी को हर प्रकार की भेंट चढ़ाते हैं ।

मण्डी—बिलासपुर क्षेत्र में पाये जाने वाले अधिकांश शाक्त मन्दिर मध्य कालीन मालूम होते हैं । असम्भव नहीं है कि इस क्षेत्र के प्राचीन मन्दिर समय के कारण धराशायी हो गये और उनके स्थान पर नये मन्दिरों का निर्माण किया गया । परन्तु अभिलेखों के अभाव में कुछ भी कहना तर्कसंगत नहीं है । पुरानी मण्डी में बनवाये गये आधुनिक शक्ति मन्दिरों में प्राचीन मन्दिरों की झांकी देखी जा सकती है । मण्डी के कुछ लोग वास्तव में शक्ति की उपासना में विश्वास रखते थे । अतः वहां के राजाओं तथा धनी लोगों ने समय-समय पर शाक्त मन्दिरों का निर्माण करवाया । रिवालसर झील के पास नैनादेवी के मन्दिर का निर्माण मण्डी नरेश सूरजसेन ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में करवाया था । यह १९०५ ई० में भूचाल में गिर गया । इसी शताब्दी में सिद्धसेन ने सिद्धपुर में जल्पादेवी के मन्दिर का निर्माण करवाया था ।

हमीरपुर और मण्डी सीमा पर स्थित संगोह नामक ग्राम में निर्मित नवही देवी का मन्दिर भी काफी प्राचीन है । इसे लगभग दो सौ वर्ष पुराना माना जाता है । यहां नवभुजा वाली दुर्गा की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है । इसे क्षेत्र का एक जीवित मन्दिर माना जाता है और जून के माह में यहां भी मेला लगता है, जिस में लोग दूर-दूर से आकर भाग लेते हैं ।

इस मन्दिर को सदैव मिलता रहा। इस युग में बने यहां के शाक्त मन्दिरों में व्रजेश्वरी देवी का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है, जो कांगड़ा की संरक्षिका मानी जाती है। इसे प्राचीन काल में वागेश्वरी कहते थे। यहां यह ज्ञातव्य है कि वाक् (वाणी) एक वैदिक देवी थी, जिस का तादात्म्य बाद में दुर्गा से के साथ किया गया। कहा जाता है कि यहां कभी अश्वमेध यज्ञ किया गया था और तभी इस देवी की स्थापना हुई थी। इसे किस ने और कब बनवाया? ये बातें हमें सही तरह से ज्ञात नहीं हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह शाक्त पीठ जगत्प्रसिद्ध था। यहां लोग भारत के विभिन्न विभागों से सहस्रों की संख्या में आते थे और देवी के लिए सोने तथा हर प्रकार की अन्य कीमती वस्तुएं दान में देते थे। इसी के परिणामस्वरूप यह मन्दिर अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए अति प्रसिद्ध था। अतएव धन के लोलुप महमूद गजनवी ने १००९ ई० में कांगड़े पर आक्रमण किया और इस मन्दिर में सुरक्षित लाखों स्वर्ण मुद्राओं, सोना तथा अन्य कीमती वस्तुओं को उठा ले गया। कहा जाता है कि उसी ने यहां प्रतिष्ठापित देवी-प्रतिमा को भी हटाया। विद्वानों की यह भी धारणा है कि उसने मन्दिर को भी नष्ट किया और उसके स्थान पर एक मस्जिद का भी निर्माण करवाया गया। बाद में यहां शक्ति मन्दिर की पुनः स्थापना की गई, लेकिन उस मन्दिर का सही रूप फिर न लाया जा सका, जिस की विशालता एवं सुन्दरता के लिए वह प्राचीन काल में चारों ओर प्रसिद्ध था।

यह मन्दिर मध्य काल में हिन्दुओं का एक प्रमुख तीर्थ स्थान बना रहा। कटोच नरेशों का संरक्षण इसे निरन्तर मिलता रहा। इससे मन्दिर की मर्यादा सदैव बनी रही। प्रति वर्ष लाखों यात्रियों के आगमन और दान देने की प्रथा से यह पुनः समृद्ध हो गया। इससे विदेशी लुटेरों और लोलुप मैदानी शासकों की निगाह इस पर पुनः पड़ी। जोनराज की राजतरंगिणी में वर्णन मिलता है कि कश्मीर नरेश शहबुद्दीन ने (१३६३–८६ ए०डी०) सुशमेपुर (कांगड़ा) के राजा पर आक्रमण किया। इसी तरह दिल्ली नरेश फिरोज तुगलक ने १३६३ ई० में इसे लूटा और शेरशाह के सेना-नायक ख्वास खान ने १५४० ई० में इस पर आक्रमण किया। फिर भी कांगड़ा नगर और मन्दिर अपने विकास की ओर निरन्तर अग्रसर होते रहे। मुगल सम्राट अकबर की कृपा यहां के मन्दिरों की ओर थी। कहा जाता है कि वह कभी टोडरमल के साथ यहां आया था। युरोप के कुछ यात्रियों ने भी इसे इस समय देखा था। उदाहरणार्थ १६११ ई० में विलियम फिन्च कांगड़ा आया था। उसने यहां एक प्रस्तर निर्मित मूर्ति देखी,, जो जयदुर्गा के नाम से प्रसिद्ध थी। उसने उसके मन्दिर का भी उल्लेख किया है। १६१५ ई० में आये युरोप के दूसरे यात्री थामस कोर्यट ने इसे माता की मूर्ति बताया है। १६६६ ई० में फ्रान्सीसी यात्री थेवेंनट भी इसका उल्लेख करता है और कहता है कि नगरकोट की देवी अत्याधिक प्रसिद्ध थी और इससे वहां के ब्राह्मणों को बड़ा लाभ होना था, क्योंकि हजारों यात्री प्रति वर्ष देश के विभिन्न भागों में आकर अनेक वस्तुएं और रुपये-पैसे दान में देते थे।

सिक्खों के काल में भी इस मन्दिर को बड़ी प्रतिष्ठा मिली। महाराजा रणजीतसिंह यहां की देवी में बड़ी आस्था रखते थे। अतः उस समय भी इस मन्दिर को संरक्षण मिलता रहा, जिससे इसके विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं आई।

ज्वालामुखी मन्दिर इस क्षेत्र का दूसरा प्रमुख शास्त केन्द्र है। यह स्थान धर्मशाला से ३४ मील दूर व्यास नदी घाटी में स्थित है। मन्दिर का रूप एक दम आधुनिक है, लेकिन इस स्थान

सोमसी

का एक प्राचीन शाक्त पीठ होना जालन्धर महात्म्य से द्योतित होता है जिसके अनुसार दैत्य जालन्धर के शरीर का एक भाग यहां तक फैला हुआ है। दूसरी पौराणिक कथा के अनुसार दक्षयज्ञ भंग होने के बाद जब शिव सती के मृत शव को लेकर भागे थे तो उसकी जिह्वा इसी स्थान पर गिरी थी, अतः इसे इकावन महाशक्ति पीठों में से एक माना जाता है।

इस मन्दिर में देवी की कोई मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं की गई है। इसमें केवल एक तीन फीट गहरी वर्गाकार वैदिका ही पूजा की वस्तु है, जिसके चारों तरफ प्रदक्षिणापथ बना हुआ है। अन्य मन्दिरों की भान्ति इसे भी समय-समय पर राज संरक्षण मिलता रहा है। १९वीं शदी के प्रारम्भ में महाराजा रणजीत सिंह ने, जो इस देवी के महान् उपासक थे, इस मन्दिर के गुम्बज को अलंकृत करवाया। इसी तरह एक दूसरे शासक ने चाँदी की पतियों से सुसज्जित इसके द्वारा का निर्माण करवाया। इस प्रकार समय-समय पर देवी को दान मिलते रहे, जिससे इसका विकास निरन्तर होता रहा। इस समय यह एक अत्यन्त जीवित शाक्त स्थान माना जाता है। यहां वर्ष में दो बार मेले लगते हैं और चैत्र माह के नवरात्रों के दिनों में सहस्त्रों भक्त दूर-दूर से देवी का दर्शन करने आते हैं।

कांगड़ा क्षेत्र में अन्य अनेक शाक्त केन्द्र पाये जाते हैं। धर्मशाला से आठ मील दूर धत्रलाधार के पाद पर बहती बनेर नदी के दाहिने किनारे पर बना चमुण्डा देवी का मन्दिर इस समय विशेष प्रसिद्ध है। इसी प्रकार होशियारपुर तथा धर्मशाला मार्ग पर स्थित भरवैं नामक स्थान से लगभग डेढ़ मील दूर बना चिन्तपूर्णि देवी का मन्दिर भी इस समय अत्यन्त लोकप्रिय है। यह बहुत प्राचीन मन्दिर नहीं मालूम होता है। इसके गुम्बज तथा चौड़े छत इसे आधुनिक सिद्ध करते हैं। यहां प्रस्तर की एक पिण्डी पूजा की वस्तु है। यह छिन्न नास्तीका देवी को प्रदर्शित करती है, जिसने इस रूप में निःशुम्भ राक्षस की हत्या की थी। आज यह एक अत्यन्त जीवित पूजा केन्द्र है, जहां वर्ष भर सहस्त्रों तीर्थ यात्री आकर देवी का दर्शन करते हैं। यहां श्रावण माह में एक विशाल मेला लगता है, जिसमें लोग दूर-दूर से आकर देवी को हर प्रकार की भेंट चढ़ाते हैं।

मण्डी–बिलासपुर क्षेत्र में पाये जाने वाले अधिकांश शाक्त मन्दिर मध्य कालीन मालूम होते हैं। असम्भव नहीं है कि इस क्षेत्र के प्राचीन मन्दिर समय के कारण धराशायी हो गये और उनके स्थान पर नये मन्दिरों का निर्माण किया गया। परन्तु अभिलेखों के अभाव में कुछ भी कहना तर्कसंगत नहीं है। पुरानी मण्डी में बनवाये गये आधुनिक शक्ति मन्दिरों में प्राचीन मन्दिरों की झांकी देखी जा सकती है। मण्डी के कुछ लोग वास्तव में शक्ति की उपासना में विश्वास रखते थे। अतः वहां के राजाओं तथा धनी लोगों ने समय-समय पर शाक्त मन्दिरों का निर्माण करवाया। रिवालसर झील के पास नैनादेवी के मन्दिर का निर्माण मण्डी नरेश सूरजसेन ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में करवाया था। यह १९०५ ई० में भूचाल में गिर गया। इसी शताब्दी में सिद्धसेन ने सिद्धपुर में जल्पादेवी के मन्दिर का निर्माण करवाया था।

हमीरपुर और मण्डी सीमा पर स्थित संगोह नामक ग्राम में निर्मित नवही देवी का मन्दिर भी काफी प्राचीन है। इसे लगभग दो सौ वर्ष पुराना माना जाता है। यहां नवभुजा वाली दुर्गा की प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। इसे क्षेत्र का एक जीवित मन्दिर माना जाता है और जून के माह में यहां भी मेला लगता है, जिस में लोग दूर-दूर से आकर भाग लेते हैं।

बिलासपुर जिले में स्थित नयनादेवी मन्दिर का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में प्राय: दो किम्बदन्तियां प्रचलित हैं। एक के अनुसार यहां कभी किसी गुजर ने एक बछिया को एक चट्टान पर दूध गिराते देखा, उसे इस पर कुछ सन्देह हुआ। कहा जाता है कि उसने उस स्थान को खोदा तो उसे एक प्रस्तर-खण्ड मिला, जिसमें देवी का रूप था। उसने फिर वहां उसी देवी के लिए एक मन्दिर का निर्माण करवाया, जो नयनादेवी नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरी जनश्रुति के अनुसार दक्ष-यज्ञ भंग के बाद सती की एक आंख यहां गिर गई, जिस से बाद में देवी के लिए बनवाये गये मन्दिर को लोग नयनादेवी कहने लगे। कुछ भी हो, यह देखने में अत्यन्त आधुनिक शक्त पीठ मालूम पड़ता है। यहां प्रति वर्ष श्रावण में मेला लगता है और नवरात्रों के दिनों में देवी की विशेष पूजा होती है। इस क्षेत्र का यह अत्यन्त जीवित मन्दिर माना जाता है और सहस्रों की संख्या में लोग आकर देवी की वर्ष भर पूजा करते हैं।

यहां मण्डी के तारना देवी मन्दिर का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। मध्य काल में बना यह मन्दिर हिमाचल के प्रमुख शाक्त स्थानों में गिना जाता है। यह तारना नामक पहाड़ी के शिखर पर स्थित है। वहां जाने के लिए बड़ी सुन्दर सड़क बनी हुई है, जिस पर कार चला कर दर्शक मन्दिर तक जा सकता है।

इस मन्दिर की स्थापना राजा श्यामसेन ने की थी। बाद में उसके वंशज बलबीरसेन ने इस मन्दिर के गर्भगृह को अत्याधिक सुन्दर बनाया। कहा जाता है कि रणजीतसिंह ने बलबीरसेन से रियासत के लिए अधिक कर मांगा। लेकिन उसने उसे देने से इन्कार कर दिया। इस लिए उसे कैद कर लिया गया और उसे अमृतसर में गोन्बिदगढ़ के जेलखाने में रख दिया। राजा बड़ा दुखी था, लेकिन वह भगवती काली का पक्का उपासक था। वह अपनी मुक्ति के लिए देवी की प्रार्थना दिन-रात करता रहा। अन्त में कन्या रूप में देवी ने उसे दर्शन दिया। उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि जब वह छूट कर मण्डी पुन: वापस आयेगा तो वह देवी के मन्दिर में सोने की पत्तियां उसी तरह लगवायेगा जैसा कि बड़े दरबार साहिब के मन्दिर में लगा है। फिर उसे वहां से मुक्ति मिली। वह अपनी राजधानी में लौटा, उसने जयपुर से कारीगरों को बुला कर मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया, इसके भीतर गर्भगृह में सोने की पत्तियां मढ़वाईं और बीच-बीच में शीशे लगवाये।

मन्दिर का गर्भगृह वास्तव में अद्वितीय है और सम्पूर्ण भारतवर्ष में ऐसा काली-मन्दिर या देवी-स्थान अन्यत्र नहीं बना है। मन्दिर निर्माण-कला में अनुठा है। वैसे मन्दिर मध्य काल में विकसित मन्दिर-वस्तुकला की शैली में बना है और ऊपर गुम्बदनुमा शिखर निर्मित है। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ बना है। मन्दिर ऊंचे चबूतरे पर स्थित है, जिस पर संगमरमर के छोटे-छोटे सादे और रंगीन टुकड़े जड़े हुए हैं। मन्दिर देखने में सुन्दर लगता है और सम्पूर्ण स्थान एवं वातावरण जीवित जान पड़ता है। लगता है कि सचमुच यहां कोई रहता है, जो संसार के निर्माण एवं उसके संरक्षण का कारण है।

सब से उल्लेखनीय बात उसके गर्भगृह का आन्तरिक अलंकरण है। इसमें स्वर्ण-पत्रों से निर्मित बेल-बूटे तथा गुलदस्ते आदि अत्यन्त सुन्दर हैं। यह भारतीय मन्दिर निर्माण-कला में अकेला एवं अनूठा है। इस पर मुगल कालीन रंगमहल (शीशमहल) का प्रभाव है, जो अमृतसर

बड़े गुरुद्वारे से होकर मण्डी पहुंचा है। जैसे यह बड़ा दरगाह सोने के पत्तों से सजा है और उसमें बीच-बीच में शीशे के टुकड़े जड़े गये हैं, उसी प्रकार यह गर्भगृह भी स्वर्ण-रचित और शीशे से जड़ित है। इसके कारण यह मन्दिर हिमाचल में ही नहीं, वरन् पूरे भारत में अनुपम है और इस दृष्टि से न तो खजुराहो के मन्दिर और न एलोरा ऐवं अजन्ता के मन्दिर एवं गुफाएं ही इसका सामना कर सकती हैं। अगर भुवनेश्वर, मदुराई एवं आबू के मन्दिर अपनी विशालता एवं मध्यता के लिए विश्व प्रसिद्ध हैं, अगर कुतुब मीनार अपनी ऊंचाई और इन्जीनियरिंग के लिए सर्व विदित है, अगर संगमरमरी ताज महल अपनी सुन्दरता के लिए विख्यात है, अगर अजन्ता अपनी चित्र-वीथियों के लिए बेजोड़ है, तो मण्डी का यह मन्दिर अपने आन्तरिक स्वर्णिम अलंकारण के लिए भारत में ही नहीं वरन् एक अद्वितीय स्थान रखता है।

धार्मिक दृष्टि से भी यह मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में काली का यह स्थान बड़ा पूज्य एवं श्रद्धास्पद है। प्रति दिन दर्शनार्थियों का आवागमन बना रहता है। वैसे मेलों तथा तिथि-त्योहारों के दिन यहां बड़ी भीड़ रहती है। लोगों में विश्वास है कि वहां कोई जो भी मनौती मानता है, उसे देवी अवश्य पूरा करती हैं। अतएव कोई सन्तान प्राप्ति की इच्छा से आता है तो कोई नई युवती अपने प्रेमी को पाने के लिए महीनों मन्दिर का चक्कर काटती रहती है। कोई धन एवं सम्पत्ति की इच्छा लेकर यहां आता है तो कोई अपने शत्रु के विनाश की कामना से मत्था टेकता है, क्योंकि यह देवी केवल अन्नपूर्णा ही नहीं है, वरन् वह शत्रु-संहारिणी भी है।

मूर्ति कला की दृष्टि से भी यह मन्दिर उल्लेखनीय है। प्रमुख अधिष्ठात्री देवी का मुख भव्य एवं भयानक है। उसका कृष्ण रूप उसे काली बताने में अंजान के लिए भी आसान है। दोनों तरफ अन्य दो मुख दिखाई पड़ते हैं, जिस से लगता है कि यह उसके त्रिमुख रूप का प्रदर्शन है, क्योंकि वह जन्मदात्री, संसार-संरक्षिका एवं सर्व-संहारिणी तीनों है और इसी कारण वह अपने भक्तों के लिए सर्वोपरी है। गर्भगृह के साथ में अन्य अनेक प्रतिमाएं भी सुरक्षित हैं। गणेश की दो प्रतिमाएं हैं, जिसमें एक पुराने पत्थर की बनी है और दूसरी संगमरमर की है। बाईं तरफ महिषासुर मर्दिनी देवी की खड़ी प्रतिमा रखी है, जो सम्भवतः प्राचीन है। प्रमुख देवी के दाईं तरफ भैरव की एक खड़ी प्रतिमा रखी है, जिसमें विभिन्न आयुधों एवं मुद्राओं के साथ बारह हाथ बड़ी सुन्दरता से तराशे गये हैं। इसी के बगल में महिषमर्दिनी देवी की दूसरी संगमरमर की मूर्ति प्रतिष्ठापित है। दाईं तरफ अर्घो में बने लिंग में तराशी गई पंचरात्र शिव की प्राचीन प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके साथ-साथ दीवारों पर रंगीन पत्थरों से निर्मित फल पत्ते तथा सजे गुलदस्तों के उकेरे गये चित्र अत्यन्त सुहावने लगते हैं। इसे देख कर ताजमहल की दीवारों पर बने तथा रंगीन लघु प्रस्तर-खण्डों से अलंकृत विभिन्न गुलदस्ते याद आते हैं। यहीं राजा बलबीरसेन का एक सुन्दर चित्र भी एक शिला फलक पर बना हुआ है, जिस में उसे बैठे हुए दिखाया गया है। वह हाथ में एक गुलाब का फूल लिए है और बगल में प्रदर्शित खड्ग बड़ी सुन्दर है।

मन्दिर का प्रदक्षिणा-पथ भी बड़ा अलंकृत भव्य एवं जीवन युक्त मालूम पड़ता है। यहां गर्भगृह की बाहरी दीवार पर दुर्गा के विभिन्न रूपों के रंगों से चित्र बनाये गये हैं, जो अत्यन्त आधुनिक हैं। इनमें दशभुज महाकाली, तारा, षोडशी दुर्गा, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी,

धूमावली, बगला, काली, कमला, मातंडी आदि रूपों में दुर्गा के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रदक्षिणा-पथ के बाहर की तरफ दीवारों पर भी दशभुजा दुर्गा, सिंहवाहिनी दुर्गा, कालरात्रि, भैरव, शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रचण्डा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता कात्यायनी, सिद्धदात्री, आदि देवी के अन्य रूपों के आधुनिक किन्तु सुन्दर चित्र बनाये गये हैं, जिन्हें देख कर शाक्त धर्म की शिक्षाएं मिलती हैं। वास्तव में सम्पूर्ण मन्दिर पत्थरों में लिखी दुर्गासप्तशती मालूम होती है, जिसमें शाक्त धर्म के विभिन्न स्तरों के विकास को पढ़ा जा सकता है।

मध्यकाल में वास्तव में तन्त्र, मन्त्र पद्धति के विकास के कारण शक्ति पूजा अत्यधिक प्रचलित हुई। हरिवंश पुराण में जंगली तथा पर्वतीय जातियों द्वारा देवी की पूजा का अनेकशः वर्णन मिलता है। मार्कण्डेय पुराण के प्रचार के कारण भी उसकी उपासना में बड़ी वृद्धि हुई। इस ग्रन्थ में शक्ति वर्णन का निरुपण बड़ी लोकप्रियता के साथ किया गया है। उसमें जहां एक तरफ उसकी अनेक विजयों का वर्णन है वहां दूसरी तरफ उसकी महत्ता का बड़े लोकप्रिय तरीके से उल्लेख किया गया है। उसके इस प्रकार के पौराणिक प्रचार से भी हिमाचल में उसकी गरिमा और भी बढ़ गई और उसके विविध रूपों का विस्तार हुआ।

तान्त्रिक धार्मिक धारा के विकास और प्रचार से शक्ति-पूजा और भी बलवती हुई। इसके अनुसार मुक्ति और मुक्ति का समन्वय किया गया। इनका कहना था कि सांसारिक भोग मुक्ति के मार्ग में बाधक न होकर सहायक होते है। अतः संसार त्याग का उपदेश न देकर इन लोगों ने प्रवृति मार्ग का उपदेश दिया और साधना तथा मन्त्री द्वारा शरीरस्थित कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार की पूजा के लिए मन्त्र, बीज, यन्त्र, मुद्रा तथा न्यास नामक पांच विधियां बताई गई जिनकी सहायता से साधक प्रार्थना करता है और अपने इष्ट देवता से तादात्म्य स्थापित करता है। कालान्तर में इन्हें जादू और टोनों के साथ एकाकार करने मनुष्यों एवं देवों को वश में करने का भी प्रयत्न किया गया। तान्त्रिक पूजा आसान हो गई। जिनसे सर्वसाधारण में यह लोकप्रिय हो गई। इसमें स्त्रियां तथा शूद्र भी समान रूप से भाग ले सकते थे। शक्ति-उपासना की यह पद्धति धनी और निर्धनों में समानरूप से प्रचलित हुई।

इसी शक्ति-दर्शन के प्रभाव के कारण शक्ति-पूजा के तीन प्रमुख रूप प्रचलित हुए। प्रथम था साधारण रूप, जिसमें देवी की पूजा सामान्य तरीकों से की जाती थी और दूसरा था भयानक रूप जिसमें उसकी पूजा बलि आदि उपायों से की जाती थी। तीसरा रूप अधिक रहस्यात्मक और दार्शनिक था। इसमें शाक्त मतानुयायी तन्त्र-मन्त्र का सहारा लेकर मुक्ति और ज्ञान के माध्यम से रहस्यमय आन्तरिक शक्ति श्री उपासना करता था। इन रूपों की पूजा मध्यकालीन तन्त्रग्रन्थों में विस्तृत रूप से मिलती है। शाक्तों की देवी को आनन्द भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी और ललिता आदि नामों से पुकारते थे।

त्रिपुर सुन्दरी देवी की अराधना तीन प्रकार की भक्ति से की जाती थी। एक में महापद्म वन में शिव की गोद में बैठी देवी पर ध्यान किया जाता था, जो सभी का कारण है। दूसरी विधि चक्र पूजा थी। इसमें रहस्यमय चक्रों की पूजा की जाती थी, जिसे शाक्त धर्म में बाह्ययोग कहते हैं। तीसरी विधि में शाक्त सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता था और शक्ति-तत्व का ज्ञान प्राप्त

किया जाता था। दूसरी विधि को सबसे उपयुक्त माना जाता था जिससे स्त्री-योनि प्रकल्पित थी और सम्पूर्ण को श्रीचक्र कहते हैं। कालान्तर में ऐसे शाक्त उपासकों के दो वर्ग बन गए। एक को कौलिक शाक्त कहते थे, जो योनीरूप उपादान की पूजा में विश्वास रखते थे और दूसरे वर्ग को समयिन शाक्त कहा जाता था, जो कल्पित योनि की पूजा में विश्वास रखते थे।

कौल सम्प्रदायी शाक्तों के भी दो अंग बन गए थे। एक को पूर्वकौल कहते थे जो योनि के चित्र रूप की पूजा करते थे और दूसरे को उत्तर कौल कहते थे जो अति सुन्दर सजीव योनि की पूजा में विश्वास रखते थे। कौल लोग इस देवी को सुरा, मांस, मधु, मत्स्य तथा अन्य ऐसी चीजें समर्पित करके उसकी पूजा करते थे और स्वयं उनका प्रयोग करते थे। समयिन शाक्तों में ये सब वर्जित था।

जाहिर है कि कौल शाक्त सम्प्रदाय समाज के सभी वर्गों में प्रचलित न हो सका। मैदानी भागों में वह शीघ्र ही इन्हीं प्रवृतियों के कारण अप्रिय और अलोकप्रिय हो चला। उनकी ग्रह्य विधाएं न तो सर्वसाधारण की समझ में आई और न उनका समाज में प्रचार ही हुआ। बल्कि उल्टे सामाजिक कारणों से ऐसी शाक्त पद्धतियों का विरोध हुआ और परिणामतः कौल शाक्तों को रहस्यपूर्ण स्थानों, शाक्त-मन्दिरों, जंगलों और पर्वतीय घाटियों की शरण लेनी पड़ी जहां वे निश्चिन्त होकर अपनी शाक्त साधनाएं चला सकें। सम्भवतः ऐसी ही धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों में मध्यकाल में शाक्ता धर्म हिमाचल की इन पहाड़ियों में अधिक विकसित हुआ। वह कांगड़ा मण्डी से आगे बढ़ कर रावी-व्यास और सतलुज नदियों की घाटियों में अधिक लोकप्रिय हो गया।

कुल्लू क्षेत्र में स्थित शाक्त मन्दिरों में कोई भी अत्यन्त प्राचीन नहीं मालूम पड़ता है। वैसे यह हो सकता है कि इन्हीं स्थानों पर पहले कुछ शाक्त मन्दिर स्थापित किए गए हों। हरमन गोएट्ज का मत है कि सन्ध्यादेवी का मन्दिर आयुधवंशीय कला-शैली में बना है। इस क्षेत्र में कन्नौज के प्रतिहार सम्राटों का सीधा शासन था, अतएव उत्तर भारतीय वास्तुकला का प्रभाव यहां तक फैलना अत्यन्त स्वाभाविक था। प्रतिहार शासकों में अनेक शक्ति के उपासक थे, अतएक उनके काल में इस क्षेत्र में शाक्त धर्म का विस्तार हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इस काल में उत्तर भारतीय संस्कृति यमुना-घाटी से होकर पब्बर नदी की घाटी में आई और वहां से आगे बढ़कर उसने सतलुज घाटी में पदार्पण किया। हाटकोटी तथा निर्मण्ड में धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक पक्षों का विकास इसीलिए हुआ। यह तथ्य न केवल वहां के मन्दिरों के देखने से सही मालूम होता है, वरन् वहां उपलब्ध तत्कालीन मूर्तियां भी इसी निर्णय पर पहुंचने के लिए विद्वानों को बाध्य करती है। हाटकोटी में पूजित दुर्गा की एक कांस्य निर्मित अत्यन्त विशाल प्रतिमा यहां उल्लेखनीय हैं। निर्मण्ड वैसे एक शैव पीठ था। लेकिन यहां शक्ति की भी पूजा की जाती थी। यहां उपलब्ध चण्डीदेवी का मन्दिर सम्भवतः कभी पूर्वमध्य काल में बना मालूम पड़ता है। इसी प्रकार बजौरा में विश्वेश्वर शिव के मन्दिर में प्राप्त महिषमर्दिनी दुर्गा की मूर्ति प्रतिहारों के युग में ही बनी मालूम पड़ती है। ऐसी सम्भावना है कि वहां शिव मन्दिर के साथ कोई शक्ति मन्दिर भी था, जिसके अवशेष अब उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार जगत्सुख में भी प्राचीनकाल में शायद एक देवी-मन्दिर निर्मित था। इसके कुछ अवशेष संध्या देवी के मन्दिर में पाए जाते हैं, जिसका निर्माण पन्द्रहवीं शदी में करवाया गया था।

कुल्लू के अन्य मन्दिर मध्य कालीन हैं। इनमें मनाली में स्थित हिडिम्बा देवी का मन्दिर, कोठी में प्राप्त चण्डिका देवी के मन्दिर तथा नग्गर में निर्मित त्रिपुर सुन्दरी का लघु मन्दिर और निचार का ऊषा देवी का मन्दिर शाक्त धर्म के विकास की दृष्टि से गिनाये जा सकते हैं। ये सभी मन्दिर विशिष्ट प्रकार के पर्वतीय पैगोडा-शैली में बनाये गये हैं, जो वस्तुकला के विकास की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सिरमौर–महासू क्षेत्र में भी शक्ति की पूजा प्रचलित थी। यह क्षेत्र उत्तर भारतीय धार्मिक धाराओं से अधिक प्रभावित रहा है और सम्पूर्ण क्षेत्र सदैव वहां के संप्रभू राजाओं के अधीन रहा है। अतः इस क्षेत्र में मैदानी संस्कृति का प्रभाव प्राचीन काल में काफी हद तक था, जैसा कि यहां के प्राचीन अवशेषों से ज्ञात होता है।

पब्बर नदी के तट पर स्थित हाटकोटी इस क्षेत्र की राजनैतिक और सांस्कृतिक नगरी थी, जिस का विकास सम्भवतः पूर्व मध्य काल में हो चुका था। यहां से प्राप्त महिष-मर्दिनी दुर्गा की विशाल मूर्तियां इसी काल में बनी मालूम होती हैं। हाटकोटी से प्राप्त दुर्गा की एक कांस्य प्रतिमा पर उपलब्ध अभिलेख भी इसी ओर संकेत करता है। स्वच्छन्द भैरवी की ऐसी ही एक कांस्य प्रतिमा इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित है जो सम्भवतः इसी क्षेत्र (हाटकोटी) से पाई गई थी। हाटकोटी तथा आस पास के क्षेत्रों में अनेक देवी मन्दिर आज भी पाये जाते हैं, जिनका निर्माण मध्य काल में हुआ जान पड़ता है। यह क्षेत्र इस समय जुब्बल के राजाओं के अधीन था, जिसमें से अनेक शक्ति के उपासक थे। सिर्मौर नरेश वीर प्रकाश (१३८७ ई०) से भी हाटकोटी में एक दुर्गा मन्दिर का निर्माण करवाया था।

रामपुर बुशहर क्षेत्र में स्थित सराहन में भी भीमा काली का एक बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर है। अन्य देवी मन्दिरों में सिरमौर में रेणुका देवी का मन्दिर उल्लेखनीय है, जो मध्य काल में कभी बनवाया गया जान पड़ता है। इस क्षेत्र में स्थित यह एक महत्वपूर्ण शाक्त केन्द्र है, जहां आज भी वर्ष में कई बार मेले लगते हैं और वहां की झील में स्नान करने के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं।

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
४, मैनोरे हाऊस,
समरहिल, शिमला–५।

सती नरजी

-जया

लोक-गीत लोकमानस के जीवन की वह सहज अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा वह अपने मन के उद्गारों को पद्य के रूप में दूसरों तक पहुंचाने में सफल होता है, लोक-गीत के माध्यम से विभिन्न समय पर लोक-जीवन में घटी घटनाओं को जो सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है वह किसी अन्य माध्यम से नहीं। लोक-गीत में केवल ऐतिहासिक घटनाओं को ही स्थान नहीं मिला है अपितु लोक-जीवन के उन अछूते प्रसंगों को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त है जिन को साधारण सी बात समझ कर आम तौर पर भूला दिया जाता है। लोक-कवि ने इन साधारण घटनाओं को पद्य में इस ढंग से सुनियोजित किया है कि सुनने वाले का मन कवि की प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। प्रस्तुत लोक-गीत में वर्णित कथा सती नरजी की है जो रोहड़ू तहसील के अन्तर्गत नावर क्षेत्र के बरासली गांव की रहने वाली थी। उसका विवाह उसी क्षेत्र के प्रसिद्ध शिकारी बदशाल गांव के मियां दाऊद के साथ हुआ था। मियां दाऊद के लिए जंगली सुअर, बाघ तथा रीछ जैसे भयानक जानवरों का शिकार करना बायें हाथ का खेल था लेकिन दुर्भाग्य से एक दिन जंगली सुअर का शिकार करते समय वह स्वयं ही उसका शिकार हो जाता है। गम्भीर घायलावस्था में उसे घर लाया जाता है। नरजी उस समय खेत में काम करने गई होती है।

इस गीत का प्रारम्भ मियां दाऊद के शिकार पर जाने से होता है :

तोगा निकलो तिरिया मियां दाऊद रों पेड़ो,
पार तोला पोड़ो बोण सुंगरा रो हेड़ो।
एक लाए कुल्हाड़ियां लागी लोश्रा रा फीशा,
दूजी लाए कुल्हाड़ियां लाटो लाकुड़ो दीशा।

गांव में शोर मचता है कि गांव में जंगली सुअर आया है, यह सुन कर जब मियां दाऊद उसको मारने के लिए जाता है तो उसका सारा परिवार बरामदे तथा द्वार पर से उसे देखने को निकलता है। ज्यों ही मियां सुअर पर कुल्हाड़ी का वार करता है, खून की पिचकारियां फूट पड़ती हैं, लेकिन दूसरा वार करने पर उसे मौत घायल जंगली सुअर के रूप में सामने दिखाई पड़ती है (क्योंकि घायलावस्था में जन्तु हिंस्र हो उठता है) और शिकारी उसके भयानक रूप को देख कर हड़बड़ा जाता है, जिस से वार चूक जाता है, सुअर उस पर हमला कर देता है, परन्तु उसी समय अन्य गांव के लोग वहां पहुंच जाते हैं और जंगली सुअर को मार डालते हैं। गम्भीर घायलावस्था में मियां दाऊद को जब घर लाया जा रहा है तो गांव के लोग एक दूसरे को आवाज देकर यह दुःखद समाचार सुना रहे हैं—

धारा श्रोरु टिहालियां बोला लो का,
मियां जाणी दाऊदा बोणा सुंगरा खा।
चीटी होलो कुरती रो मुंहटू रो गोरो,
पार तोला श्राणेंगो मियां दाऊदा नोरो।

दूर से यह आवाज देने वाला कह रहा है ऐसा लगता कि मियां दाउद को जंगली सुअर ने मार डाला है क्योंकि दूर सामने से जिसको उठा कर लाया जा रहा है उसकी सफेद कमीज है, मुंह से वह गोरा और मियां दाऊद की तरह ही लग रहा है। नरजी, मियां की पत्नी खेत में इस घटना से बेखबर काम कर रही थी और फसल काट कर उसका बोझा उठा कर घर को जाने की तैयारी कर रही होती है कि वहां पर कोल्टी आती है—

पार श्रोरु कोलटे श्राशे श्राखटी भौरे,
ऐसे बाहटू नोइठे छोड़ो तुमा बोढी घौरे।

(अक्सर गांव में दुःखद समाचार देने के लिए कोल्टी या कोल्टू को सन्देशवाहक के रूप में भेजा जाता है।) कोल्टी (सन्देशवाहक) नरजी के पास जब पहुंचती है तो उसकी आंखे आंसू से भरी थी, और वह बड़ी कठिनाई से नरजी से इतना ही कह पाई कि इस बोझ को नीचे रख दो क्योंकि आपको जल्दी घर बुलाया है, एक तो कोल्टी को सन्देशवाहक रूप में पाकर दूसरा उसकी आंखों में आंसू देखकर नरजी का मन आशंका से भर उठा और हड़बड़ाहट में वह तेजी से घर की ओर भागती है—

सेरी देणी कोंटी दी गुटे नरजीश्रा फाली,
हाथ श्राई मोहलियों जौ गिवां री डाली।

भागते समय उसके हाथ में जो गेहूं की बालियां उखड़ती हुई आ जाती है क्योंकि जिस रास्ते वह घर को जा रही है उसके दोनों ओर जौ और गेहूं के खेत हैं—

खौरा खोरी नोरजीया उकले सगाड़ा,
भीतर गोये शुणये मियां दाऊदा रे राड़ा।

जल्दी-जल्दी नरजी बरामदे की सीढ़ियां चढ़ती है तो उसके कानों में मियां दाऊद के करहाने की आवाज सुनाई पड़ती है—

श्रांखी हेरी दाऊदा मियां छापरा दे लाये,
सांभला ले नोरजयां बोले बताये।

जब नरजी भीतर पहुंचती है तो उस समय मियां दाऊद की आंखें पथरा गई थी लेकिन नरजी उसकी ओर देखती है तो उसे लगता है मानों उसका पति उससे कह रहा है कि प्रिय नरजी तू इस समय साथ जीने मरने के बादे को मत भूलना। दुःखी नरजी के मन में उसको याद करके जो भाव उठता है वह लोक कवि की कल्पना की अद्भुत प्रस्तुती है—

बोली बताइयों जा लो मोडा का तेरा,
छोह मीहना रे बेटके पांइवें न मेरा।

अर्थात् याद है मुझे लेकिन क्या करूं छः महीने की नन्हीं बेटी का मोह मुझे विचलित कर रहा है। इसके भाव का उत्तर उसे स्वयं ही उसका अन्तंमन का पति प्रेम देता है—

बेटकी रे नोरजीया मातने न झरे,
धनी धाचा लो भाईटू गुड़ा शक्करी कोरे।

कि छः महीने की बेटी की तू फिकर मत कर क्योंकि उसको धनी (धनीराम) छोटा भाई (देवर नरजी का) घी और शक्कर से पालेगा अर्थात् उसको किसी तरह की कमी नहीं होने देगा। यह अंतर्मन की आवाज उसे निश्चय अनिश्चय की स्थिति से उभारती है और वह अपने सती होने की बात अपनी सास को बताती है, उसकी सास यह सुन कर कहती है—

दाऊदा री लाड़ियां ताऊं जलना न देऊ,
धोनी म्हारा लोलडा ताऊं एऊखें फरेऊ।

अर्थात् दाऊद की लाड़ी (ठाकुर परिवार में पत्नी को लाड़ी सम्बोन्धित किया जाता है) मैं तुझे सती नहीं होने दूंगी। धनी मेरा छोटा बेटा है उसके साथ तुम्हारा पुनर्विवाह कर दूंगी। इस पर नरजी कहती है—

ऐजी भुशा शाशुआ मां तुमां ला ली केती,
धोनी होलों देउरा भाई खड़कु जेती।

ऐसी बातें सास मां तुम मत कहो क्योंकि धनी तो मेरे लिए अपने भाई खड़कू जैसा है इसके पश्चात् नरजी के सती होने की तैयारियां शुरु होती हैं—

धोनी बोलु देउरा भाया काट मेरे सुधा,
धर बोदशाला छुटा चोड़िया रो दुधा।
जोटी एकी आदमी बरासली खे जाओ,
माची बरासलू का खबरा लाओ।
कोलीया गड़ेयता लोभा फूको बी न पूणा,
भाई बोदणो खड़कू नोऐं धोरा रो कुणा।

कुछ लोग बरासली जाओ तथा मायके में मेरे सती होने की खबर दे दो। कोल्टू को समझाती हुई नरजी कहती है तू दूर से आवाज देकर मेरे मायके में यह खबर मत सुनाना अपितु मेरे भाई खड़कू (खड़कसिंह) को अलग से बुला कर सारी बात कहना क्योंकि—

मां आगु न लाणी मेरी जलणा री भूशा,
भाई आगु बोलणो मां गिवलू कुशा।

मां मेरी सती होने की खबर सुन कर दुख से प्राण त्याग देगी। इसलिए भाई के पास ही मेरे सती होने की बात कहना।

कोली देने गड़ेयता पूचा फूके ढिहाले,
जोला ले बरासुलूआ धियाइना ताहरे।

लेकिन संदेशवाहक इस दुःखद समाचार को भावावेश में रोक न सका और जोर से पुकार कर उसने नरजी के मायके वालों को नरजी के सती होने की खबर सुना दी। ज्यों ही नरजी की मां ने यह दुःखद खबर सुनी—

मां पूणा नोरजी रे आंदलिया माटे,
ओरु गाड़णे नोरजी पोरु जुग पाईयो काटें।

मां रोती हुई कहती है कि नरजी को जलने नहीं देना, उसको जुगटू (सती होने वाली स्त्री के लिए विशेष रूप से तैयार आसन) में से निकाल लेना और जुगटू को तोड़ कर आग में डाल देना।

जुग नही काटी दो मोड़ा नाऊरी रा डोरा,
चाले होंदे मासते कादी फिरदे न घोरा।

इस पर लोग उसको समझाते हुए कहते हैं कि सती होने वाली स्त्री (मासती) को वापिस नहीं लाया जा सकता क्योंकि एक बार यदि वह सती होने को तैयार हो जाती है तो वह सुसराल वालों की इज्जत का प्रश्न बन जाता है। इस लिए अब ऐसी बातें कहना व्यर्थ है।

मां आई नोरजीं रे टोइयां रे टेका,
जोला नहीं नोरजीया नेउती रे ऐका।

लेकिन मां का दिल फिर भी नहीं मानता वह लाठी के सहारे बेटी के पास पहुंचती है और उसको सती होने से रोकती हुई कहती है कि नरजी बेटी तू अपने सती होने की बात को त्याग दे क्योंकि बड़ी मान्यतायें करके प्राप्त हुई तू मेरी इकलौती बेटी है।

लेकिन मां का करुण विलाप भी नरजी को उसके प्रण से नहीं डिगा सका। इसके पश्चात् नरजी का भाई खड़कू उसे सती होने से रोकने के उद्देश्य से उसे समझाने के लिए आता है—

भाई आओ खोड़कू नीआ हाथा कु पाये,
चाला पोरु बरासली खे दुआ मेरी गाये।

भाई खड़कू नरजी को हाथ से पकड़ कर समझाता है कि बहिन तू पति की मृत्यु के बाद यहां रहना नहीं चाहती तो मेरे घर बरासली चल वहां हल्के फूल्के काम करके सुख और आराम से रहना।

भाई तेरा बाशटू भाई श्रोमरा चांई,
राऊका लाड़ी रा तेरी सूणदा नाई।

भाई तेरी सुख समृद्धि सदा बनी रहनी चाहिए। तेरे पास आकर रहने को दिल तो चाहता है लेकिन तेरी पत्नी के ताने सुनने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाह के पश्चात् लड़की के लिए मायके का घर सदा के लिए पराया हो जाता है, सुसराल ही उसके लिए सब कुछ है चाहे वहां दुःख हो अथवा सुख।

भाई लेरा खड़कू तेरा जुगटू रा श्रोला,
दुःख सुख चाईतां दादे मुर्दूका बोला।

जब भाई के समझाने पर भी नरजी नहीं मानती तो खड़कू उससे पूछता है कि बहिन यदि तुझे सुसराल में किसी प्रकार का दुःख है तो मुझ से कह परन्तु सती होने का प्रण त्याग दे। इस पर नरजी कहती है—

दुःखा रे न जीलदे सुंखा भोगा रे जोलू,
माची बरासलू रे उजले कोरू।

कि भाई मैं दुःख के कारण नहीं जल रही हूं अपितु मैं तो सती होकर अपने मायके वालों का सम्मान बढ़ा रही हूं।

छेऊड़ीया गोड़ो री बेलो मेरी जुटे,
काला पोरु दादीयां म्हारो साथ गो छूटे।

नरजी सती होने के लिए तैयार हो गई है सिर्फ उसकी चोटी करने के लिए रह गई है जिसके लिए वह अपनी आस पड़ोस की हम उमर स्त्रियों से उपरोक्त पंक्तियां कहती है। वह कहती है कि आज अन्तिम बार तुम मेरी कंघी कर दो क्योंकि आज के पश्चात् हमारा साथ हमेशा के लिए छूट रहा है।

एक तरफ नरजी के सती होने की दृढ़ प्रतिज्ञा और दूसरी ओर नन्हीं बिटिया का मोह, जो उसके हृदय में हूक के समान उठता है। इसका मार्मिक वर्णन कवि के द्वारा निम्नलिखित पंक्तियों में किया गया है—

बाड़ी रा बड़ेटुश्रा होलो सोजां बिनाणें,
मेरे देया बे टकी का घुघते चाणे।

वह बढ़ई के बेटे से कहती है कि सुना है कि तू बहुत अच्छी लकड़ी की चीजें बनाता है। मेरी बेटी के लिए भी सुन्दर सी चिड़िया बना कर दे देना।

इसके पश्चात् का वर्णन नरजी के मायके वालों के आने का है। जो नरजी को अन्तिम विदाई देने के लिए भारी संख्या में मासती के सती होने के समय काम में आने वाली सामग्री को लेकर आ रहे हैं। इसका वर्णन कवि ने इस तरह किया है—

माची बरासलू आ चुटाली घोड़ी,
दारुआ बुगचा आणा के केऊला री घोड़ी।
माची बरासलू आ शोरू री छांड़ा,
सारा बोदशालू री भोरूई पांडा।

अर्थात् नरजी के मायके वाले इतनी भारी संख्या में वहां एकत्रित होने लगे कि उनके खड़े होने तक के लिए स्थान नहीं रहा।

कलेयर डेल एनैक्सी, अनाडेल,
शिमला – १७१ ००३।

●★●

जसवां क्षेत्र में दुर्गा पूजा – जगराता या जागा

–सुश्री स्वर्ण 'प्रेम'

हिमाचल प्रदेश देव भूमि है और देव पूजा मनुष्य की सामान्य प्रवृति है। प्रकृति से लेकर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा वैदिक काल से प्रचलित है। मनो-इच्छाओं की पूर्ति तथा देव-कोप के भय से जहां विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है वहां इसके विभिन्न रूप और रीतियां देखने को मिलती हैं। अन्य देवताओं के साथ मां दुर्गा की पूजा भी हिमाचल में अनेक ढंगों और नामों से की जाती है। जहां ऊपरी भागों में दुर्गा पूजा नुआला नाम से परंपारित है जहां कांगड़ा के जसवां क्षेत्र में जागा या जगराता नाम से प्रचलित है। यह जगराता शब्द यज्ञरात शब्द का विकृत रूप लगता है।

दुर्गा पूजा का यह रूप कब से प्रचलित है इसका काल-निर्धारण करना कठिन है क्योंकि इसके विषय में ठीक समय का ज्ञान जगराता करने वालों की किसी भी टोली को नहीं है।

जसवां क्षेत्र के डाडा सीबा गांव की झिवर जाति जगराता करती है। इस जाति में इनकी चार टोलियां हैं जिनके डेरेदारों के नाम इस प्रकार हैं। १. श्री बृजलाल २. श्री निक्काराम ३. श्री गौरीराम ४. श्री प्रतापचन्द।

जगराता वह परिवार अपने घर में रात के समय करवाता है जिसकी कोई सुक्खना (मन्नत) मां दुर्गा द्वारा पूरी कर दी गई होती है। कुछेक इसी उपलक्ष्य में घर के अतिरिक्त मन्दिर में भी जगराता करवा देते हैं।

जगराता करवाने के लिए मण्डली के मुख्य को अभीष्ट परिवार साई के रूप में एक रुपया देता है और निर्धारित रात को उस घर में वही मण्डली अभीष्ट परिवार के घर जगराता करती है।

मण्डली, निर्धारित रात को उस परिवार के घर आकर बरामदे या आंगन में गोबर से लेप करवा कर अपना पूजन स्थान स्थापित करती है। एक चौकी पर कपड़ा बिछा कर उस पर पूजन की सामाग्री धूप, फूल, चावल, ज्योति, नारियल, सात सुपारी, चुन्नी तथा दुर्गा की तस्वीर रखती है। इसी के साथ मण्डली के पास वाद्य-यन्त्र चिमटा, हारमोनियम, तबला, खड़तालें, घड़ा, थाली होते हैं जिन्हें बजा-बजा कर यह मां दुर्गा की स्तुति करते हैं। इस सारे आयोजन की पृष्ठ भूमि में पूर्णतया धार्मिक भावना ही कार्य करती है।

जगराता का आरम्भ दुर्गा की आरती के साथ होता है। इसके पश्चात् कथाएं बोलकर और गाकर सुनाई जाती हैं। जिनमें हिन्दी, पंजाबी तथा पहाड़ी का मिश्रित रूप सुनने को मिलता है। पूरे जगराते में खिचड़ी गान का ही प्रयोग होता है। जगराता जिस आरती से आरम्भ होता है इस प्रकार है :

तेरे मन्दरां विच, ओ तेरे भौणा विच आरती जय हो—(२)
किनी सुहागन दीवा बालिया ओ अम्बे, किनी जगाई ए तेरी जोत,
ओ तेरे मन्दरां विच ओ तेरे भौणा विच आरती जय हो······
ध्यानु दी भैणा दीवा बालिया ओ मेरी अम्बे, भगता जगाई ए तेरी जोत · ओ तेरे···
सर्वे सोने दा दीवा बालिया ओ अम्बे, रुएं पुआई ए तेरी जोत, ओ तेरे मन्दरां विच···

भावार्थ कि भगत मां से पूछते हैं कि तेरे मन्दिर में किस सुहागन ने दीपक जलाया और किसने ज्योति जगाई इस पर माँ कहती है कि ध्यानु भक्त की बहन ने दीपक जलाया और भक्तों ने ज्योति जलाई है। भक्त कहते हैं कि मां तेरा दीपक सोने का है और रूई की ज्योति बनी है।

आरती के पश्चात रामायण नाम एक गायन होता है इसे गणेश भी कहा जाता है। इसकी पंक्तियां इस प्रकार हैं :

ओ मैं जोतां ते बारे बारे जामा,
पहले तां उगमियां इक ओंकार दुत्तिया जग संसार,
ओ मैं जोतां ते वारे-वारे जामा।
तरेती तां उगमी त्रीलोकी, चौथे चारे वेद,
ओ मैं जोतां······
पंजमें तां उगमें पंजे पांडव, छटा आप नारायन
ओ मैं जोतां······
सतमां तां उगमियां सत्त सीता वा. अठवीं अष्ठभुज देवी,
ओ मैं जोतां ते ·····
नौअे तां उगमें नौ नराते, दसमां दस्स अवतार,
ओ मैं जोतां······
ग्यारमें उगमियां ग्यारह इन्द्रियां, बाहरवें बारह महीने,
ओ मैं जोतां ते ·····
तेरहवें तां उगमें तेरह रतन, चौदहवें चौदह पवन,
ओ मैं जोतां ·····
पंदरमां ते उगमें पंदरह जग्ग, सोलहवां सोलह अवतार,
ओ मैं जोतां······
अरसों माता उत्तरी इक, मात लोक विच आई ओ
ओ मैं जोतां ते······
पांडव सुपने आई भवानी देणा मन्दिर बणाई जी
ओ मैं जोतां ते······

इस प्रकार इस गीत द्वारा माता का पांडवों को स्वप्न में कहना बताया गया है कि वह माता का मन्दिर बनाएं फिर गाकर माता और पांण्डवों में प्रश्नोत्तर हैं। यहीं से कथा-रूप आरम्भ हो जाता है।

पांडव मन्दिर की नींव रखती बार पूछते हैं :

कितने गज तेरी नींव जी रखणी अम्बे ओ कितना फेर भवन दा,
पांडवां ने मन्दिर बणाया बड़े शौक दा।

माता : नौ गज्ज दी मेरी नींव रक्खयो अम्बे ओ, सौ गज्ज फेर भवन दा।
पांडवां ने मन्दिर बणाया बड़े शौक दा।

भगत : किधर देसों तेरियां इट्टां लिग्रांमा, अम्बे ओ चूना लिग्रांमा केहड़े शहर दा।
पांडवां ने मन्दिर बणाया बड़े शौक दा।

माता : दक्खण देसों मेरियां इट्टां लिग्रायो, चूना लिग्रायो नमें शहर दा।
पांडवां ने मन्दिर बणाया बड़े शौक दा।

मन्दिर तैयार होने पर यज्ञ के विषय में सामान पूछते हैं।

भगत : किधर देशों तेरे चौल् लिग्रामा अम्बे, दुध लिग्राईए केहड़े शहर दा।
पांडवां ने जगन रचाया बड़े शौक दा।

माता : दक्खण देसों मेरे चौल् लिग्राओ भगतो, दूध लिग्राओ गऊ धाम दा।
पांडवां ने जगन रचाया बड़े शौक दा।

इस प्रकार यज्ञ की तैयारी पाण्डव कर लेते है और सभी ऋषियों को निमन्त्रण भी दे देते हैं परन्तु दुरभाषा ऋषि को इसलिए नहीं बुलाते क्योंकि उसने बैठी गाय को लात मारी होती है। यज्ञ की तैयारीं हो जाती है तो जालन्धर राक्षस उसमें आकर विघ्न डालता है तो माता प्रकट होकर वध करती है राक्षस खुश होता है कि मैं माता के हाथों मर रहा हूं। पाण्डवों के यज्ञ में जब माता जाती है तो लंगरवीर माता के भगत और माता के बीच इस प्रकार सम्वाद हैं :—

लंगर बीर : सिंह वे सुम्रारिया शेर सवारिया, तेरे मां वारे जामां,
कहां चली हैं ग्राधी रात, जै-जै मैय्या चरणां ते वारे-वारे जामां।

दुर्गा : भक्तां जे मेरियां जगन रचाया होम रचाया, तेरे मैं वारे जामां,
वहां चली ग्रां ग्राधी रात, जै-जै मैय्या चरणां ते वारे-वारे जामां।

लंगर वीर : लंगर वीर तेरियां मिनतां करदा, ग्ररजां जे करदा, तेरे माँ वारे जामां,
मैंनूं भी लैं चल नाल्, जैं-जै मैय्या चरणां ते वारे-वारे जामाँ।

जब राक्षस का वध माता करती है तो जालन्धर राक्षस कहता है :—

छाती ते भवन बणा लिग्रा माता जी, मेरा सिर चरणा च ला,
ग्रापे तारो मैय्या।
जो कोई इत्थे मरे देवा जी, ग्रोई स्वर्ग नूं जाए,
ग्रापे तारो मैय्या।

अब यज्ञ की पूर्ण तैयारी पर दुरभाषा ऋषि को भी यज्ञ का पता चलता है तो वह शिव-पार्वती से यज्ञ के विषय में पता करने जाते हैं कि उन्हें बुलाया गया है या नहीं। जाते हैं तो देखते हैं कि वह तो यज्ञ में जाने के लिए तैयार हो रहे हैं वह छिप कर तसल्ली करना चाहते हैं।

शिव-पार्वती प्रति दिन कीकर और पन्नी के पौधे (जिस की झाड़ू बनती है) में पानी डालते थे आज दो दिनों का पानी डालते है।

पार्वती पन्नी में पानी डालती है :

गाना : ओ भरिया ताँ लोटा जल नीर दा देवां जी, पन्निये दे बूटें पाणी पा,
ओ आपे तारो मैय्या।
पन्नीं ताँ रोई रोई आखदी देवी जी, मैंनूं भी लै चल नाल,
ओ अम्बे जी मैंनूं भी किसी वन्ने ला,
आपे तारो मैय्या।

इस पर पार्वती शिव से पन्नी को साथ ले चलने को कहती है तो शिव क्रोधित होकर पौधा उखाड़ लेते हैं और उसे गले से सांप लेकर बांध कर (झाड़ू के रूप में) फैंकते हैं कि तू जा और यज्ञ के स्थान को साफ कर और उसे यह वरदान देते हैं कि जब भी कोई अच्छा काम होगा तो पहले तुम से सफाई की जायेगी। स्वयं भी कीकर के पौधें में पानी डालते हैं।

गाना : ओ भरिया ताँ लोटा जल नीर दा देवां जी कीकर दे बूटे पाणी पा।
कीकर ताँ रोई-रोई आखदा देवा जी मैंनूं भी लै चल नाल।
आपे तारो मैय्या।

इस पर कीकर की एक लकड़ी कान पर रख कर ले जाते हैं और कहते हैं कि कुछ खाने से पहले तुम से दातुन की जाया करेगी। दोनों चलते हैं :

झाड़ी ते झोड़ी शिवा गोदड़ी, डंडा ते कूंडा गौराँ कोल।
आपे तारो मैय्या।

दोनों यज्ञ में चले जाते हैं परन्तु जिस सांप से शिवजी ने झाड़ू बांधा होता है उसका आधा भाग वहीं रह जाता है उसे दुरभाषा ऋषि उठा लेते हैं और उनके मन में दुर्विचार आता है कि उन्हें नहीं बुलाया गया तो वह भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं होने देंगे यह सांप खीर (यज्ञ की) में डाल देंगे। उन्होंने पक्षी का रूप बनाया और सांप उठाया और यज्ञ स्थान पर गए। वहां उन्होंने देखा कि सब ऋषि स्नान करने गए हैं उन्होंने सांप खीर की कड़ाही में डाल दिया। यहां गाते हैं :

पंछी दा उन रूप बणाया, सुन्दर पंख बदन पर लाया,
सोने दी चुंज रूपे दे पाऊए, पंछी छुण-छुण करदा आया।
अम्बे राणी पंछी दा रूप बणाया अम्बे राणी....... ...
पंछी दा उन रूप बणाया सुन्दर पंख बदन पर लाया,
बिच्छुआ कड़ाहे विच पाया ओं अम्बे राणी सप्प कड़ाहे विच पाया।

वहां एक छिपकली देख रही होती है। यह छिपकली शाप वश बनी होती है यहां उसके पूर्व जन्म की कथा बताई जाती है। पूर्व जन्म में वह तारा रानी की बहन होती है दोनों ने व्रत रखा होता है। वह छिपकली (पिछले जन्म की रुकमण) व्रत का सामान लेने जाती है व्रत

एकादशी का होता है उसे स्वर्ग भेजने का लालच देकर धोखे से हलवाई मांस खिला देता है जब वह वापिस बहन को सामान लेकर आती है तो तारा उसे चौरासी जून भुगतने का शाप देती है। इस समय यह छिपकली (किरली) की जून में होती है। जब ऋषि पक्षी रूप में सांप कड़ाही में डालता है तो किरली सोचती है कि यह प्रायश्चित का अच्छा मौका है मैं कड़ाहे में गिर कर ऋषियों की जान भी बचा लूंगी और एक जून भी कट जायेगी और मैं ऐसा नहीं करूंगी तो बोल तो सकती नहीं उन्हें बताऊंगी कैसे। किरली की मनो-व्यथा यों गाते हैं :

मुखों न बोले, जिह्व न चले देवा जी,
इन्हाँ भगताँ दी जान बचा, आपे तारो मैय्या।
चारे-चारे पौए किरली चली ऐं मैय्या जी,
रही ऐं कड़ाहे कोल जा, आपे तारो मैय्या।
किरली कड़ाहे विच पै गई ऐ देवा जी,
हो रही जै-जै कार, आपे तारो मैय्या।

बोल कर : ऋषि आकर खीर खाना चाहते हैं तो छिपकली को कड़ाही में देख कर उसे शाप देते हैं कि जा तू फिर नीच जाति में जाए। खीर को दबाती बार ऋषियों को नीचे सांप का टुकड़ा दिखता है तो वह वस्तुस्थिति समझते हैं और छिपकली को वरदान देते है :

आओ ते भगतो वर दे देईए माता जी,
एह ताँ माता दी टहल कमाए, एह ताँ राजे दी कन्या कहाये,
आपे तारो मैय्या।

ऋषियों के वरदान से छिपकली राजा के घर जन्म लेती है परन्तु शाप के कारण ग्रह नीच पड़ते हैं।

गाकर : राजा सर्वस घर कन्या जन्मी करड़े मंगलवार,
सदियो पाधा खोलियो पतरी कन्या कैसी आई ऐ।
पण्डित : एह कन्या नईं कोई काल तुम्हारा, तैनूं मारन आई ऐ।
सोने रूपे दी पेड़ बना के दियो कन्या रुड़ाई।
सोने रूपे दी पेड़ बनाई उस विच कन्या पाई ऐ,
चुक लेई पेड़ टुर पेई बाई दित्ती कन्या रुड़ाई ऐ।

नदी के किनारे धोबी कपड़े धो रहा होता है पेड़ (सन्दूक) को देख कर निकालता है इसमें एक भंगी भी उसकी सहायता करता है। सोने को देख कर दोनों बांटना चाहते हैं परन्तु निर्णय नहीं कर पाते तभी एक ऋषि आता है और कहता है कि सिक्का उछालर कर देखें एक अन्दर का हिस्सा मांगों दूसरा बाहर का। भंगी के हिस्से अन्दर का हिस्सा आता है और उसमें लड़की देख कर वह खुश हो जाता है। उसके घर कोई सन्तान नहीं थी घर जाकर वह भंगिन को कहता है :

नीच ताँ नीचणी नूं आखदा देवा दी,
नौई-धोई कन्या गोदी पा, आपे तारो मैय्या।

भंगिन कहती है दूध नहीं है इसे कहां से ले आए परन्तु बाद में रखने को मान जाती है।

नौई-धोई कन्या गोदी पाई लेई देवा जी,
अरसों दूध वरिया, आपे तारो मंय्या।

भंगी के घर ही लड़की बड़ी हो जाती है और उसकी शादी राजा हरिश्चन्द्र के भंगियों के घर कर दी जाती है जिनका काम केवल माता के मन्दिर की सफाई करना था। साल बाद यही काम रुकमण को सौंप दिया जाता है। रुकमण (भंगी की लड़की) सफाई करने जाती है।

ए रुकमण माता दे मन्दिर चली, चरणा ते शीश नवायो देवा जी,
रुकमण केशाँ दा झाड़ू बणाया, फेरदी ए विच मन्दराँ दे
देवा जी फेरदी ऐ विच मन्दरा दे।

कई दिन सेवा करने और यात्रियों को आता जाता देख रुकमण लंगरवीर (माता के भक्त) से पूछती है कि माता लोगों को क्या देती है, ये क्यों आते।

लंगरवीर : जो कोई माता नूं सेमदा देवा जी, गोदी ओ लाल खड़ाए,
आपे तारो मंय्या।

रुकमण भी माता का जगराता करने की मन्नत करती है तो उसके यहां भी लड़का हो जाता है परन्तु उसे जागा की याद नहीं रहती। एक दिन लड़का बीमार हो जाता है तो वह मन्दिर में आकर रोती है और झाड़ू लगाती है। लंगरवीर रोने का कारण पूछता है और वह उसे जागा की याद दिलवाता है। वह फिर जागा करवाने को कहती है। लड़का ठीक हो जाता है वह भक्तों को जगराता करने को कहती है परन्तु वह यह कहते हैं कि तुम नीच हो हम तुम्हारे घर तभी जागा कर सकते हैं अगर ताराराणी तुम्हारे घर जागा करे तो हम भी चलेंगे। रुक्मण ताराराणी के घर जाती है तो देव शक्ति से उसे पता चल जाता है कि वह उसकी बहन है वह उसका आदर करती है।

ताराराणी : आजा भैणे तू बैजा पीड़े तारा करे तेरा आदर,
नी तू आजा भैणे तारा करे तेरा आदर।

तारा उसके आने का कारण पूछती है तो वह बताती है कि भक्तों ने ताराराणी के आने पर ही जागा करने को कहा है। इस पर तारा कहती है कि उन्हें सात-सात चावल केसर में रंग कर देना जो भक्त चावल ले लेगा उसे जागा करने आना पड़ेगा और मैं भी आऊंगी। इस पर वह जागा की विधि पूछती है तो वह यों बताती है :

सत्त सुपारियाँ लै लिआँ भैणे नी, धजा नारयल दी भेंट चढ़ा,
गोहे दा लेपण पुआ लियाँ भैणे नी, मोतियाँ दा चौंक पुआईयाँ।
आपे तारो मंय्या।

रुक्मण ने ऐसा ही किया और जगराते का दिन आ पहुंचा परन्तु उसी दिन नाई राजा को रानी के जगराते में जाने की बात बता जाता है राजा रानी को जाने से इन्कार करते हैं और नींद

न आ जाए इसलिए उंगली काट कर नमक लगा लेते हैं और रानी की टांग पर सिर रख कर सो जाते हैं :

ऊंगल कट के लूण रचाया, तारा दे पट्ट दा सरहाणा बणाया,
ओ तड़फेंगा सारी रात, मत जाईयो नीचाँ दे दरबार
राजा कहिंदा राणिया नूं, आपे तारो मैय्या।

तारा अपना वायदा झूठा होता देख कर माता को याद करती है :

ठंडे-ठंडे झोले दियाँ माता जी, राजा जो नींदर आये,
आपे तारो मैय्या।
ठंडी-ठंडी हवा चली ऐ माता जी राजा जो नींदर आई
आपे तारो मैय्या।

राजा सो जाते हैं और रानी तैयार होकर रुकमण के घर चलती है बाहर उसे चोर मिलता है जो उसके गहनें छीनना चाहता है। उसके झपटने पर रानी की एक पायल गिर जाती है :

डिडडें ने हत्थ पसारिया देवी जी,
पैरे दी झाँझर निकल गेई, आपे तारो मैय्या।

तारा जाती है :

जगन चली भक्ताँ दे तारा राणी माँ,
आधी रात, प्रभात के बेले, अम्बर बिजली लसके,
तारा राणी माँ जगन चली आधी रात।
आधी रात कोई सिंग दी सवारी पैरीं जेवर छनके,
तारा राणी जगन चली आधी रात।

तारा जगराते में जाती है और जागा करवाती है और शीघ्र जागरा समाप्त करने को कहती है :

जागरा करो बरखास्त देवा जी, राजा नूं आई जाणी जाग,
आपे तारो मैय्या।

इतने में राजा जाग कर दरवाजे में पहुंच गया होता है और रानी को मांस, बबरु का प्रसाद लेते देख लेता है दरवाजे पर आते ही उसे गोद दिखाने को कहता है और रानी घबरा जाती है।

बौंड़ के लंगरुआ भवन पर जावे सुतड़ी माता जगाई,
ऐं की खेल रचाई, बाँके भौंणा वाली ए की खेल रचाई।
सुतड़ी माता चटपट उठी बोली शेरां नूं लेंदी जगाई।
एह क्या खेल रचाई, बाँके पहाड़ाँ वाली ए क्या.........
पल नेईयों बीतिया पलट नेईयो बीविया, राणियाँ गोद दिखाई
बाँके मन्दराँ वाली.........

मांस सुपारियाँ हो गया देवा जी, चौल् चम्बे दियाँ कलियाँ
ओ पहाड़ाँ वाली एह.........

राजा चकित रह जाता है और पूछता है :

इस अन्ते दे दियां देवा जी, भगताँ दी जान बचा ओ माता.........।

रानी कहती है :

इस तू अन्ते न लिम्रा राजा जी।
अन्त खण्डे दी धार, ओ राजा जी अन्त खण्डे दी धार।

राजा फिर इस प्रसाद के बदलने के रहस्य को जानना चाहता है तो रानी महल में बताने को कहती और महल में जा कर कहती है :

रानी : लीला-लीला (नीला) घोड़ा तेरे हेठ दा राजा जी,
उस दा तू शीश लिम्रा, आपे तारो मैय्या।
धूके खण्डारा राजा चलिम्रा, रिम्रा तबेले विच जा,
आपे तारो मैय्या।
धूके खण्डारा वे राजे मारिया देवा जी दित्ता घोड़े दा शीश उतार,
आपे तारो मैय्या।
रानी : इको-इको तेरा पुतर राजा जी,
उस दा तू शीश लिम्रा, आपे तारो मैय्या।
राजा : धूके खण्डा राजा चलिया देवा जी रिम्रा महलाँ विच जा,
माता ताँ तेरी होई ऐ बाँवरी मंगदी शीश तेरा,
आपे तारो मैय्या।
धूके खण्डारा राजे मारिया देवा जी दित्ता लड़के दा शीश उतार,
आपे तारो मैय्या।
रानी : छोटा-छोटा करके चीरियाँ राजा जी,
इहनू दियाँ बटोंहे विच पा, आपे तारो मैय्या।

इस प्रकार मांस पकने पर तारा पांच थालियों में डलवाती है और राजा को घोड़े और बेटे का नाम लेकर पुकारने को कहती है इस पर राजा आवाज लगाता है तो उसका बेटा रोहित मोरध्वज घोड़े पर बैठ कर आ जाता है। इस प्रकार ताराराणी की कथा समाप्त होती है।

सिमर ध्यानु यश गाँमदा देवा जी,
तारा होई सम्पूर्ण, आपे तारो मैय्या।
आम्रो भक्तो बाँडा-बाँडी करिये, तारा होई सम्पूर्ण,
आपे तारो मैय्या।

इसी प्रकार जगराते में एक और कथा ध्यानु भगत की गाई जाती है जिस की कथा इस प्रकार है कि लंगरवीर अपने को माता का बड़ा भगत मानता है परन्तु माता उसे उससे भी

बड़ा भगत दिखाने को कहती है और कहती है कि ध्यानु भगत जंगल में गाय चरा रहा है जाओ उसकी परीक्षा लो। उसे कहना कि माता पत्थर के नीचे छिपी है ढूंढो। इसे गाया इस प्रकार जाता है :

लंगरवीर ध्यानु भगत के पास जाता है :

लंगरवीर : जाति दा कुण हुन्दा भक्ता की ए तेरा नां ?
आपे तारो मैय्या ।

ध्यानु : जाति दा मैं बाणियाँ भक्ता ध्यानु मेरा नाँ,
आपे तारो मैय्या ।

लंगरवीर : किस दियाँ तू गाईयाँ चारे, किस दा जपना नाँ ?
आपे तारो मैय्या ।

ध्यानु : मात पिता दियां गाईयाँ चारां, अष्टभुजा दा जपना नाँ,
आपे तारो मैय्या ।

इस पर लंगरवीर कहता है कि इस पत्थर पर माता बैठी है जाकर दर्शन कर लो। परन्तु ध्यानु उसे वहां नहीं पाता तो कहता कि छिप गई है ढूंढो। इस पर ध्यानु स्थान को कही (कस्सी) से खोदता है। इस पर जो निकलता है :

ध्यानु : पहली ताँ केही मारी ध्यानुएं देवा जी, निकले न लौंग सुपारी,
आपे तारो मैय्या ।
दूजी ताँ केही मारी ध्यानुएं देवा जी, निकले न पान सुपारी,
आपे तारो मैय्या ।
तीजी ताँ केही मारी ध्यानुएं देवा जी, निकली मूरत काली,
आपे तारो मैय्या ।

लंगरवीर : सात सुपारीयाँ लै लियाँ भगता, धजा नारियल भेंट चढ़ा,
आपे तारो मैय्या ।
ध्यानुए शीस उतारिया देवा जी, हो रही जय-जय कार,
आपे तारो मैय्या ।
ध्यानु दा शीस चढ़ा दित्ता देवा जी, हो रही जय-जय कार,
आपे तारो मैय्या ।

ध्यानु का शीश चढ़ा देने पर भविष्य में ऐसा करने के किए माता इन्कार कर देती है।

इसी के साथ एक अन्य कथा 'शिव पार्वती' के विवाह की कथा भी गाकर और बोल कर सुनाई जाती है। इसका आरम्भ नारद द्वारा पार्वती के बहकाने और पार्वती का शिव से अमर कथा सुनने की जिद्द और सुनते हुए सो जाने से होता है। गाकर सुनाया जाता है :

१. तेरा याद गणेश मनाया रंग जोड़ियां बाजे लाया,
थाल घड़ा मरदंग बजदा कैठियां छुण-छुण लाया।

२. हे मैं सौरां जालप्पां माई, भौणें अन्दर जोत समाई,
उठ प्रभाते अमृत वेले देणा भौण बणाई।

३. इक दिन नारद फेरा पाया, नारद पार्वती कोल् आया,
इसकी टहल करे मेरी माता इन से क्या फल पाया।

४. नारद ने बैठ के वाक्य सुणाई ए तू सुण लै भोली माई,
अमर कथा शिवां कोल है तैनूं नहीं सुणाई, इसने जट्ट विच गंगा लुकाई।

५. सेवा पार्वती ने छोड़ी धूणी चुक के जले विच गेहली,
डंडा–कूंडा फेंक दिया तूम्बे नूं चोट लगाई
शिवां दी डुल गई सरदाई।

६. शिवां ने झोड़-गोदड़ी (मृगशाला) बिछाई ओथे मानस रिआ न कोई
ओथे पंछी रिआ न कोई, शिव पार्वती दोनों बैह के अमर कथा सुणाई
तां पार्वती नूं नींदर आई, कबूतरां अमरता पाई।

शिव तो पार्वती की जिद्द पूरी कर देते हैं परन्तु कथा कबूतर सुन लेते हैं। पार्वती को जिद्द करने की आदत ही थी उन्हीं दिनों पार्वती के मायके में यज्ञ था उसे नहीं बुलाया था फिर वह चोरी से देखने जाना चाहती है और शिव के ध्यान-मग्न होते ही चली जाती है। वहां उसका अपमान होता है और वह हवन कुण्ड में जल जाती है इस पर शिव वहां पहुंच कर पार्वती को निकाल लेते हैं और रास्ते में उसके अंग गिरते हैं वहां नौ देवियों के अवतार की किंवदन्ती है। उस का पुनः जन्म होता है।

इसे इस प्रकार गाकर सुनाया जाता है :

राजा हौंसल दे घर कन्या जन्मीं, गौरां नाम रखाया,
एक साल दी होई गौरजां, इक ओंकार की पूजा करे।
दो साल दी होई गौरजां, चन्द सूरज दी पूजा करे।
तीन साल दी होई गौरजां, तीन लोक विच सैर करे।
चार साल दी होई गौरजां, चारे उसने वेद पढ़े।
पंज साल दी होई गौरजां, पंजा पांडवां नाल चले।
छः साल दी होई गौरजां, छिटवें निरंजन पुजा करे।
सत्त साल दी होई गौरजां, सीता संग खेल करे।
अट्ठ साल दी होई गौरजां, अष्टभुजा नाल खेल करे।
नौ साल दी होई गौरजां, नौआं नराते पूजा करे।
दस्स साल दी होई गौरजां, दस्स अवतार दी पूजा करे।

ग्यारहवें वर्ष में राजा को उसकी शादी की चिन्ता हो जाती है और वह पण्डित को वर की तलाश में भेजता है परन्तु पण्डित असफल लौट आता है और कहता है :

पण्डित : घर मिलया ते वर न मिलया, वर मिलदा ते घर नी,
गंगा ढूंढी जमना ढूंढी जगरनाथ हुण सारा,
दिल्ली ढूंढी, आगरा ढूंढिया, ढूंढिया शहर बटाला ।
वर मिलया न कोई राजा जी वर मिलया न कोई ।

यह बात गौरां को पता चलती है तो वह पण्डित को बुला कर कहती है :

गौरां : माता भुल गई, पिता भुल गये, तू क्यों भुल्लण आया ।
लिख चिट्ठी गौरां पण्डित जी दे पास,
चिट्ठी ले के जाओ शिव बसदे कैलाश ।

पण्डित पर्वत पर जाते हैं और बामी बने शिव की ताड़ी खुलवा कर कहते हैं कि वह पार्वती का टिक्का लेकर आये हैं । इस पर शिव इन्कार करते हुए कहते हैं :

शिव : देवीं वे किसे राजा नू बावा, हम जंगल के साधू ।
गौरां तां तेरी सठु वे सहेलियां, ऐथे न भूत मसाण ।
गौरां तां तेरी खावे दुध मलाईयां, ऐथे न अक्क ते धतूरे ।
गौरां तां तेरी सौवे लेफ तलाईयां, ऐथे न मिरगा दे शाले ।

पण्डित फिर भी टिक्का चढ़ा देता है तो शिव दक्षिणा देना चाहते हैं । कहते हैं :

शिव : डंडा लैजा, कूंडा लैजा, भंग लै जाईं,
बाह्मनी दे कोल बैह के, घोटणा पाईं ।

पण्डित कहता है इससे तो मेरा परिवार भूखा मर जायेगा ।

शिव : मड्डियां दी माला वड्डी नादी लै जाईं
पंडिता लै जा शेष-नाग मच्छराणी दे गल्ल पाईं ।

पण्डित कहता है मेरा परिवार डरेगा ।

शिव : हत्थ दा त्रिशूल, डम्म डोरु लै जाईं
पण्डिता लै जाईं मुठ्ठ भबूती, पण्डिता खाली न जावीं ।

पण्डित मुट्ठी भबूती को लेकर उदास ग्यारहवें दिन घर आता है परन्तु घर रखने के बाद देखता है कि भबूती सोना, चांदी, हीरे, मोती बन गई है । फिर गा कर :

पण्डित : भुल्ल गया मेरी मत्त मारी,
इक जे मुठ्ठी शिवां आप जे दित्ती
पंज सत्त चुक लिआदां मैं, मेरी मत्त मारी ।
आसन पर हम बैठे हुए थे चित हुआ उदास रे ।
पूजा-पाठ, नित-निम करके चले राजन के पास रे ।

पण्डित राजा के पास पहुंचा तो—

राजा : चन्दन दी चौकी परमेश्वर बैठाईयो,
सच कहो मेरे दाता क्या कर आयो।
काहे दे उहदे मन्दर बने दाता,
काहे लग्गे कुआल सच गलाईयो।

पण्डित : सोने दे ओदे मन्दिर बणे राजा,
चांदिया लग्गे कुआल झूठ गलाया।

पण्डित कहता है कि १४ फागुण का विवाह निश्चित किया है। इस पर विवाह की तैयारियां होती है और उधर शिव ध्यान-मग्न हैं। यह देख कर सूर्य शिवजी को सचेत करता है :

आप निरंजन मारिया गोडा, पर्वत आन हिलाया।
पर्वत कम्बिया, खुल गई ताड़ी, तां मन सोचं लाया।

शिव घबरा जाते हैं कि विवाह का दिन है और ससुराल पहुंचने में पांच दिन लगेंगे जब कि आज एक पहर ही दिन बाकी है वह सूर्य को बुलाते हैं।

सूर्य : सूरज पुछ दा भोले नाथ नू
क्या कम्म बणियां जरुरते मैनूं सदिया।

शिव : अज्ज दिन पहर रवै, होआ बड़ा कहिर वे,
जाना शहर चनौणी पैंडा बड़ी दूर वे।

सूर्य : नदी बन पर पालो पक्खर,
कर लो शिवा सुआरी, मदद तुम्हारी असां करांगे।

शिवां कीतियां तैंय्यारियां, भंग घोट पीतियां,
शिव होये मतवाले, भंग चढ़ी ओ रेही,
नगरी घिर-घिर देखी, आसन विच मड़ियां।

शिव अपने बैल पर चढ़ कर शमशान के पास आकर बैठ जाते हैं। थोड़ी देर में गौरां की सहेलियां बारात देखती उधर पहुंचती हैं और शिव से पूछती हैं तो शिव कहते हैं कि वही गौरां के वर हैं इस पर भला बुरा कह कर गौरां के पास आती हैं और कहती हैं :

नठ्ठ-भज्ज औरतां पास गौरां दे आईयां।
मड़ियां दे विच है इक बाबा, सानू बूरियां गल्लां गलाईयां।

इस पर गौरजां उसकी पहचान पूछ कर कहती है कि वही मेरा वर है तो सहेलियां उसे छेड़ती हैं :

गौरजां देखया तेरा नी लाड़ा गज्ज-गज्ज लमक रिश्रा श्रदा दाड़ा ।
गौरां जी दे बूहे श्रग्गे शिवां ने बिगुल बजाया, देखो गौरां दा लाड़ा ।
भंगा दिश्रां बोरियां भर के लिश्राया, सभनां ने ढोलां वांगूं ढिडढ लमकाया ।
भूत जें गल्ल विच पाया, डाडा जुल्म कमाया, देखा गौरां तेरा लाड़ा ।

गौरजां सहेलियों को लेकर शिव से माफी मांगती है ।

सठ्ठ वे सहेलियां नाल् गौरजां, पास शिवां दे श्राईयां,
लेई परदक्खणा, फिरण चफेरे, चरनी शीश नभाईयां ।

पण्डित को भी पता चल जाता है और वह भी शिव के पास पहुंचता है। शिव कहते हैं क्या आप इस लिए मुझे लेने नहीं आए कि मैंने आपको भबूती की दक्षिणा दी थी ।

पण्डित : तार दित्ता वे शम्भू तेरी दक्खणा ।
राजा जी दे कोल श्रज्ज मैंनू रक्खणा ।
इतनी देर तेरी जंज ने लाई;
राजा जी ने जान मेरी संगटे पाई ।

शिव : जंज दी तैयारी श्रसां करी जी लेई ऐ,
राजा जी नू कह दिश्रो जंज श्राई गेई ऐ।

शिव वहीं तैयारी करते हैं :

चन्दन चौक डलाईया, शिव चौंकिया श्रान बठाया,
सुरगपुरे दियां श्रच्छरा (श्रप्सरां), बैह के नारी मंगल गाया ।
चन्द्र वे सूरज शिवा दे मुकट चढ़ाए,
कौरुश्राँ वले श्रो पांडवाँ ऊन्हां रल्ल के ढोल बजाये ।
नौं लक्ख तारा वल्ले श्रो तारा शिवां दे चोल् लाश्रो ।

शिव जी की बारात की मिलनी की बारी आती है तो फिर शिव सूर्य को बुलाते हैं ।

मिलने दे बेलै शिवे कीती ऐ पुकार,
नाद बजाए सद्द ले न महाराज ।
छोड़ सिंहासन चले श्राए महाराज,
पल छिन पहुंचे श्राके शिव जी दे पास ।

सूरज और राजा मिलते हैं :

भुजां तां पसारी उठी मिले महाराज,
राजा जी दे कट्ट गये जन्मां दे पाप ।

पार्वती के लग्न होते हैं :

कान्ह श्राया ते श्राई श्रो बैठा ठंडे मरुए दिया छौश्रां,
चलो नी सहेलियो, छैले काहने देखण जाणा ।
छैले काहने दा की देखणा कान्ह पुनियां दा चन्द ।

पार्वती के फेरे :

पहली वलिया लौआं दोहे फिरदे कुआरे,
दूजी वल्ले लौआं वजदे ढोल नगारे,
तीजी वल्ले ओ लौआं पेंदा गहणियाँ दा भार ।
चौथी ओ वल्ले ओ लौआँ गौराँ होई ऐ पराई ।

इस प्रकार विवाह सम्पन्न होता है । अब बारात में से छोटे बच्चों को खाने पर बुलाया जाता है क्योंकि बाकी खाने को बिलम्ब होता है । शिव शुक्र और हनुमान को भेजते हैं वे सभी मिठाई खा जाते हैं । इस पर राजा घबरा कर कहता है :

राजा : राजा झूरदा कन्या इक बुरी,
दिंदा जनदी नू मार, कारज न करदा ।

रानी : रानी आखदी राजा, तुसीं न डरो,
गौरां ताँ साड़ी शक्ति दा रूप, सब कुछ जानदी ।

गौरां को भी पता चलता है कि मेरे पिता का अभिमान तोड़ने के लिए शिव ने यह सब किया है । वह शिव जी को पत्र लिखती है :

आपे गौरां चिट्ठी लिक्खी, सारा हाल लिखाया,
खबरां होइयां शहर चुनाणी शिव व्याहण आया ।

शिव पुनः सब ठीक कर देते हैं । बारात खाने आती है :

लड्डू पेड़ा और जलेबी, खुरमे नाल खुलाजा,
कलाकन्द ते पिस्ते बणदे सब ताजे तो ताजा ।
दाल चौल ते माह, मुंगी झोल बणाये,
मधरा, मतंजण और वरंजा सभी मसाला पाया ।

यह सभी देख कर भी शिवजी पार्वती से कहते हैं कि उनके खाने योग्य तो कुछ भी नहीं है ।

पार्वती : ताँ मैं जाणां ताँ भंग मैं कुटाई रखदी, मेरे नाथ अमली मेरे शिव अमली,
धतूरे दी मैं दाल बणावां, विषचर दी मैं भाजी बणावाँ, खा जाओ मेरे नाथ अमली ।

इस प्रकार खाने के बाद गौरजां की विदाई होती है और शिव पार्वती के विवाह की कथा समाप्त होती है ।

समाप्ति पर आरती गाई जाती है और आरती की थाली फेरी जाती है जिसमें हर कोई श्रद्धा अनुसार पैसे डालता है । प्रशाद बांटा जाता है और जगराता समाप्त होता है । मण्डली जगराते के ११ रुपये, २१ रुपये या ३१ रुपये लेती है ।

जगराते का आयोजन पूर्णतया धार्मिक भावना से किया जाता है। इसमें भेंटें गाई जाती हैं और उनमें जिन लोगों पर भूत या प्रेतात्माओं का साया होता है उन्हें 'खेल' चढ़ती है। वह सिर हिलाकर झूम-झूम कर माता का नाम लेते हैं। इसमें भूत और प्रेतात्माओं पर जिनका साया होता है वह ठीक हो जाते हैं यह सब माता के जगराते का चमत्कार ही समझना चाहिए।

धार्मिक भावना का प्रतीक होने पर भी जगराते का अब उतना महत्व नहीं रहा है क्योंकि अब कुछ ऐसे तत्व भी सक्रिय हैं जिनका जगराते में आकर हुल्लड़ मचाना और लड़ाई झगड़ा करना ही प्रयोजन बन गया है। प्रायः कोई अनुचित बात या झगड़ा इस दिन हो जाना साधारण सी बात हो गई है जो नहीं होनी चाहिए। इस भावना को पूर्णतया पवित्र बनाए रखने का प्रयत्न होना चाहिए।

राजकीय उच्च पाठशाला,
डाडासीबा
(हिमाचल प्रदेश)

●★●

खश या खश्या

—पी० एन० सेमवाल

काश्मीर से नैपाल तक के विस्तृत हिमालय क्षेत्र को यदि खश देश कहा जाए तो अनुचित न होगा। इतिहासकार प्रायः एक मत हैं। कि सदियों पहले हिमालय के पार मध्य एशिया से यह घूमन्तु पशु-पालक जाती इस क्षेत्र में आई और कालान्तर में इस सारे क्षेत्र में फैल गई। देश-काल के प्रभाव से कालान्तर में इनके अलग-अलग नाम, बोलियां सांस्कृतिक भिन्नताएं और रीति-रिवाज उत्पन्न हो गए। अन्य जातियों के सम्पर्क और रक्त सम्मिश्रण से स्थानीय भिन्नता अधिक गहरी हो गई। फलतः आज इसके मूल रूप को पहचानना कठिन है।

खश क्षेत्र :

आज भी गढ़वाल, कुमाऊं और हिमाचल प्रदेश के कई स्थानों में खश या खश्या नाम से यह जाति जानी जाती है। गढ़वाल में खशों के बारे में पुरानी लोक प्रचलित उक्ति है; "केदारे खश मण्डलम्" केदार खश क्षेत्र है। परन्तु खशों को केदार क्षेत्र तक ही सीमित करना अनुचित होगा। सम्भवतः यह धारणा दक्षिणात्य और मैदानों से आए लोगों की थी। सदियों पहले ये लोग इस क्षेत्र के सम्पर्क में आए। शंकराचार्य के पारवर्ती समय से केदार खण्ड भारत का प्रमुख तीर्थ स्थल बना और हिमालय क्षेत्र के अन्य स्थानों की अपेक्षा यह प्रदेश मैदान-वासियों के सम्पर्क में अधिक आया। कोई आश्चर्य नहीं कि इन लोगों ने यहां के निवासियों की पुरातन जीवन पद्धति को देख कर जो उनकी सांस्कृतिक परम्राओं से भिन्न थी, यह कह दिया हो कि केदार खण्ड खशों का गढ़ है परन्तु इसका कदापि यह आशय नहीं कि यह जाति केदार खण्ड तक ही सीमित थी। स्कन्ध पुराण ने हिमलय क्षेत्र को पांच भौगोलिक खण्डों में विभक्त किया है :

खण्डाः पंच हिमालयस्य कथिताः नैपाल कूर्माचलौ,
केदारोऽथ जालन्धरोऽथ रुचिर काश्मीर संशोऽति मः।

हिमालय क्षेत्र के नैपाल, कुमाऊं, केदार (गढ़वाल), जालन्धर (हिमाचल प्रदेश) और सुरम्य काश्मीर, ये पांच खण्ड हैं। वास्तव में खशों की विचरण-भूमि मुख्यतः ये पांच खण्ड थे। जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव खशों ने इन पांच खण्डों में देखे। आज भी हिमाचल प्रदेश में यह जाति खश नाम से जानी जाती है। कुछ स्थानों के नाम जैसे रोहड़ू तहसील में खशधार और रामपुर तहसील का एक भाग काश्यापाट (खश्यापाट) इस पुरातन जाति से सम्बद्ध है। हिमालय क्षेत्र में बसने वाली विभिन्न जातियों और सामाजिक वर्गों के आज अलग-अलग नाम हैं; कनैत, राव, चौहान, नेगी, बिष्ट, रावत आदि-आदि। इनमें कुछ नाम व्यवसाय-मूलक हैं, पर ये सब उसी मूल खश जाति अथवा उसकी रक्त-मिश्रित उपजाति के वंशज हैं। सदियों के लम्बे इतिहास में कितना

रक्त-मिश्रिण हुआ, कितना भाषा व बोलियों का रूपान्तर हुआ; कितनी धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक उथल-पुथल की परतें एक दूसरे के ऊपर जमी हैं; इन सब का अनुमान और मूल्याङ्कन करना कठिन है। इन सब का वृतान्त अतीत के अन्धकार में इतना धूमिल हो चुका है कि कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

पौराणिक वांग्मय में खश :

पौराणिक इति वृतों में खशों का प्राय: उल्लेख हुआ है। इनका कई नामों से वर्णन आया है, यह उल्लेख अफगानिस्तान से नैपाल तक के पर्वतीय क्षेत्र एवं इसके आंचल में बसने वाली जातियों के साथ हुआ है। मार्कण्डेय पुराण में खशों को पर्वत वासी बताया है :

अतः प्रवक्षामि पर्वताश्रियश्चये।
नीहाराः हंस भार्गवाश्च कुरवो गुर्भणाः खशाः।
गन्धर्वान् किन्नरान् यक्षान् रक्षो विद्याधरोरगान्
कला पगामकाँश्च तथा कि पुरुषान् खसान्।

पर्वताश्रित जातियों में खशों के साथ पुराणों में बहु चर्चित देव योनि वर्ग; यक्ष, किन्नर अथवा किं पुरुष, गन्धर्व, विद्याधर, नाग आदि जातियों का प्राय: वर्णन आया है। इन देव योनि जातियों का अलग-अलग अस्तित्व सन्देहस्पद प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि खशों को स्थान-भेद के कारण अलग-अलग नाम दिए हों। राहुल सांकृत्यायन ने अपने यात्रा-विवरण में कनौरों को किन्नर की संज्ञा दी है। यह सर्वथा भ्रामक है। कनौरा वर्ग एक भाषाई इकाई प्रतीत होती है। कनौरी भाषा मुण्डा भाषा परिवार और तिब्बती भाषा का सम्मिश्रण प्रतीत होती है। अन्यथा कनौरों और कनैतों में कोई सांस्कृतिक अन्तर नहीं है। नृत्य और गायन करने वाले यदि किन्नर थे तो सभी पर्वत-वासी किन्नर कहे जा सकते हैं क्योंकि इस कला के प्रेमी सभी पर्वत-वासी हैं। स्वयं राहुल जी ने अपनी अन्य पुस्तक 'मेरी जीवन-यात्रा' में सन् १९३१ में तिब्बत से लौटते हुए जब वे शिप्की के मार्ग से कनौर में आये तो उन्होंने लिखा कि इन लोगों को कनौरा कहते हैं; कदाचित इस लिए कि ये सतलुज के किनारे बसे हैं, परन्तु सन् १९४८ में उन्होंने इनको किं पुरुष, किन्नर की संज्ञा दे दी और कह दिया कि स्नान न करने से, गन्दा रहने से इनको किं पुरुष ? कह दिया हो। मंगोल-रक्त का तनिक सम्मिश्रण होने से तुरंग बदन भी कुछ-कुछ ठीक घटता हो। परन्तु यह सभी उत्तरी सीमान्त वासियों पर घटता है। कनौरा नाम कनैत का ही रूपान्तर है और कनैत कुलिन्द का विकृत रूप है। खशों का उल्लेख कर्ण, नाग, प्रवण, हुण, किरात, दरद आदि पर्वतीय जातियों के साथ भी हुआ है। इन सभी पर्वताश्रयी जातियों को स्मृतिकारों ने धर्म-भ्रष्ट, अर्द्ध-सभ्य और धर्म-बिरुद्ध आचारण करने वाला बताया है। मनु और महाभारत ने इन पर्वताश्रयी जातियों को व्रात्य (धर्म-भ्रष्ट) की संज्ञा दी है। मनु ने तो संस्कार-हीन होने से इनको बृषल (बैल) बताया :

शनकेस्तु क्रियाकोपात् क्षत्रिय जातदाः।
बृषलत्व गता लोके ब्राह्मणामदर्शनेन च।
पौण्ड्काश्चौड्र विडा कम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्हवाः चीनाः, किराताः, दरदाः खशाः। ॥ १० : १६३-८८ ॥

ये सभी पर्वताश्रयी जातियां क्षत्रियों की कोटी में गिनी जाती थीं। परन्तु ब्राह्मणों के दर्शन से वंचित पौण्ड्रक, अङ्कविड, कम्बोज (उत्तर-पश्चिमी सीमान्त वासी), यवन, शक, पारद, पल्हव, चीनी (हिमाचल क्षेत्र के सीमान्त वासी मंगोल), किरात, दरद एवं खश बृषलत्व को प्राप्त हुए। इस प्रसंग में यह रोचक तथ्य है कि आज भी कनौर में कोई ब्राह्मण परिवार नहीं है। कनौर की वर्तमान जनसंख्या ५० हजार से अधिक है, ये सभी कनैत या कोली हैं। वास्तव में पर्वत वासियों को पुरातन काल से ही निम्न स्तर का समझा जाता था। इसका कारण उनकी आर्थिक विपन्नता निम्न सांस्कृतिक परम्पराएं एवं खान-पान और पहनावे की भिन्नता रही हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैदानों में रहने वाले स्मृति-पोषक धर्मालम्बी तब भी पहाड़ी लोगों को हेय दृष्टि से देखते होंगे। इसकी ध्वनि पौराणिक वांग्मय में प्रायः मिलती है। कल्हण कृत राजतरंगिणी के टीकाकार रघुनाथ सिंह काश्मीर के नीलमत पुराण का उद्धरण देते हुए खशों को यक्ष, किन्नर, राक्षस और पिशाचों के साथ सम्मिलित करते हैं :

गन्धर्वाः वनजिनः पुत्राभद्राश्च सुरभेः सुता।
यक्षाश्च राक्षाश्चैव खशाया स्तनया स्मृताः।

पुराणों में वर्णित विभिन्न नाम वास्तव में एक ही खश जाति के लिए देश-काल के अनुसार प्रयुक्त हुए हैं; हिमालय में बसने वाली मूल किरात और नाग जातियों से खशों का रक्त-सम्मिश्रण हुआ है। कश्यप की पत्नी कद्रू थी। कद्रू नाग-कन्या थी और उसकी सन्तान दानव, खश, पिशाच और राक्षस थे। ये सभी नाम प्रयायवाची प्रतीत होते हैं, जब इनका प्रयोग हुआ होगा, तब कदाचित् इन नामों से मानव के विकृत रूप की ध्वनि इन से प्रतीत नहीं होती होगी। पारवर्ती समय में तो दानव, पिशाच और राक्षस मानव से इतर भूत-प्रेम और भयावह रूप की ध्वनि इंगित होती है। "पिशाच" एक ऐसा शब्द है। परन्तु यह एक एतिहासिक शब्द भी है जो ऐसे लोगों का द्योतक है जो विशेष प्रकार की भाषा बोलते थे, यह पैशाची भाषा थी और अपभ्रंश का एक रूप था। इसी से पांचाल पैशाची और शौरसेनी पैशाची अपभ्रंश का उद्भव हुआ है। यह पैशाची अपभ्रंश हिन्दुकुश, कविशा, काफिरीस्तान, गान्धार, चित्राल, काश्मीर के उत्तर और पामीर के दक्षिण में बोली जाती थी और इतिहासकारों के अनुसार सदियों पहले यहीं से खशों का प्रसार पूर्व और दक्षिण की ओर हुआ। पिशाचों और राक्षसों ने महाभारत के युद्ध में कौरवों का साथ दिया था। शक, कम्बोज, बाल्हीक, त्रिगर्त, तंगण, प्रतंगण, खश, पारद, दरद आदि सभी पर्वताश्रयी जातियों ने कौरव-पक्ष का साथ दिया था।

दिवसे-दिवसे प्राप्ते भीष्म शान्तवो युधि।
असुरान करोत् व्यूहान् पैशाचान् अथ राक्षसान्।

असुर, पिशाच और राक्षसों की सेना से व्यूह-रचना करके भीष्म ने महाभारत के युद्ध का संचालन किया। महाभारत में खशों का अन्य हिमालय वासी जातियों के साथ राजसूर्य यज्ञ में सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है। निम्न उद्धृत श्लोक के अनुसार खश मेरु और मन्दार पर्वतों के मध्य शैलोदा नदी की उपत्यका में रहते थे। इसका संकेत सम्भवतः गढ़वाल की अलकनन्दा उपत्यका से हो।

मेरु मन्दारयो मध्ये शैलोदामाभितो नदीम् ।
येते की चक वेणुनां छाया रम्यामुपासते ।
खशा एकासनाह्यर्हाप्रदा दीर्णवेणवः ।
तद् वै पिपिलिकं नाम उद्धृत पिपीलिकैः ।
जात रूपं द्रोणमेवमहार्युः पूज्जशो नृपः ।

खशों ने पिपीलिका नामक सुवर्ण युधिष्ठर को उपहार रूप में दिया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तिब्बत के नारी क्षेत्र (पश्चिमी तिब्बत) में पिपीलिका (चींटियां) जमीन के नीचे से सोने के कणों को ऊपर लाती थीं, जिसको तिब्बती एकत्र करके खशों को बेचते थे। ये स्वर्ण-कण (धूल) पिपीलिका स्वर्ण कहलाता था। यूनानी इतिहासकार हीरोडोट्स ने भी इस स्वर्ण-धूल का उल्लेख किया है। उसके अनुसार हिमालय के उत्तरी क्षेत्र में चींटियों द्वारा खोदी स्वर्ण-धूल होती है। सीमान्त के भारत वासी इसको एकत्र करते हैं। ये गढ़वाल के खश ही थे। तिब्बत के नारी क्षेत्र में सोने की खानों की विद्यमानता सर्व-विदित है; पर इतने प्राचीन काल में (तीसरी सदी ईसा पूर्व) भी गढ़वाल के खश्या तिब्बत के साथ व्यापार करते थे—यह आश्चर्यजनक बात है। प्रारवर्ती ऐतिहासिक काल में तो यह व्यापार कई प्रकार से होता था।

ऐतिहासिक काल में खशों का उल्लेख :

ऐटकिन्सन के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में खशों को यक्ष कहते थे, यक्ष, राक्षस और पिशाच पर्यायवाची शब्द थे। विशाखादत्त कृत मुद्राराक्षस नाटक में खशों का पर्वतेश्वर और उसके पुत्र मलयकेतु की सेना में मुख्य सैनिक होने का उल्लेख मिलता है। आमात्य राक्षस मलयकेतु की सेना को आदेश देता है कि कुसुमपुर (पाटलीपुत्र का पुराना नाम) पर आक्रमण करते हुए सब से प्रथम खश और मगध के सैनिक ध्वजा फैहराते हुए चलें × × × आदि-आदि। इस नाटक के अनुसार कुलूत, काश्मीर, सिन्धु और पारस व मलयाधिपति ने कुसुमपुर पर आक्रमण में भाग लिया था। इस नाटक का रचना-काल ई० सन् की पांचवीं सदी माना जाता है। कुलूत का राजा चित्र वर्मा और अन्य नाम भले ही काल्पनिक हों; परन्तु उत्तर-पश्चमी क्षेत्र में खशों के प्राबल्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है। बिन्दुसार के शासन काल में उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में विद्रोह हुआ था। अशोक ने अपने पिता बिन्दुसार के समय में तक्षशिला क्षेत्र में जहां वह स्थानिक (राज्यपाल) था, इस विद्रोह को दबाया था। इसके बाद अशोक ने खशों के विरुद्ध अभियान किया था। यह क्षेत्र कुणार और स्वात उपत्यकाएं होंगी। यह मुख्यतः खश क्षेत्र था। अशोक ने चैत्यों के निर्माण में यख (यक्ष) कलाकारों की सहायता ली थी। यक्ष खश ही थे। उसकी सेना के खश वेतन-भोगी सैनिक थे। मौर्य साम्राज्य के स्थापना काल से बाद तक मौर्यों का खशों से सम्बन्ध रहा।

खश कौन थे ? खशों का मूल विवादग्रस्त है। कोई इनको आर्यों की एक शाखा मानते हैं, और कोई आर्यों के बाद आने वाली नई जाति मानते हैं। गढ़वाल और कुमाऊं के गजेटियर के लेखक ई० टी० ऐटकिन्सन जिसने इस विषय पर शोध कार्य किया है, मोटे तौर पर खशों को आर्यों से सम्बद्ध मानता है। राहुल सांकृत्यायन ने खशों को शकों की एक शाखा माना है। उनके

अनुसार शकों के दर्जनों कबीले थे जो कैस्पियन सागर से लोपनोर तक ई० पू० छठी सदी में फैले थे। इनका एक कबीला तँरिय उपत्यका (सीक्यांग) में बसा था। पूर्व में मंगोलों के दबाव के कारण ये कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर जाने को विवश हुए। इस कबीले का नान खश ही था। अन्य प्रमुख कबीले थे; मसागीत्, सकरौक, बसून, यूची आदि। उनके अनुसार ई०पू० सातवीं सदी से पहले तँरिय उपत्यका के खश नाम का कबीला पामीर गिरिमाला को पार कर गिलगित, काश्मीर और सम्भवतः लद्दाख में प्रविष्ट हुआ। अह अत्यन्त विकट मार्ग था। पामीर के इस पार फैलने में उनको कई वर्ष लगे होंगे। यहां से इनका प्रसार पूर्व-दक्षिण और पश्चिम की ओर हुआ। पश्चिम में इनका प्रसार स्वात और कुणार उपत्यकाओं की ओर हुआ और दक्षिण में काश्मीर और पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र की ओर। इस प्रसार में इनको कई सदियां लगीं। कालान्तर में ये काश्मीर से नैपाल तक के समस्त पहाड़ी क्षेत्र में फैल गये। चीनी इतिहासकारों ने इनको 'साई' कहा है और उनके अनुसार ये लोग 'ची-पिन' मार्ग से काश्मीर में आये। कदाचिद् फाह्यान इसी मार्ग से भारत में आया हो। बौद्ध परम्परा यह भी है कि अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने खोतान में एक राज्य की स्थापना की थी। जालौक नाम का अशोक पुत्र काश्मीर का शासक तो था ही। खोतान राज्य की स्थापना भी इसी मार्ग से हुई हो। पारवर्ती समय में तो पामीर का मार्ग मध्य एशिया और भारत के मध्य व्यापार का राज-मार्ग बना।

वैसे शक कबीलों का मुख्य अभियान ई० स० पहली सदी में आरम्भ हुआ। सीथियन, बैक्ट्रियन और कुषाण कबीलों के रूप में अफगानिस्तान के मार्ग से ये ईरान, सिन्ध, गुजरात और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश, गान्धार में फैले। इनमें कुषाण कबीला एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पारवर्ती काल में शक कबीलों का खश कबीले के शकों से कोई सम्बन्ध नहीं था। खश लोग सदियों पहले, छः-सात सौ वर्ष ई०पू० पामीर पर्वत-माला को लाघ कर हिमालय क्षेत्र में फैल चुके थे। इनका मार्ग पामीर गिरि-माला था जब कि बाद में आने वाले शकों का मार्ग अफगानिस्तान और कदाचित् खैबर का दर्रा था। वैसे इन कबीलों को भी पार्थिया, बैक्ट्रिया और बदक्शां में फैलने में सदियां लगीं। इन कबीलों ने उक्त प्रदेशों में सदियों पूर्व स्थापित यूनानी राज्यों का उच्छेद किया और स्वयं वे उन राज्यों के स्वामी बने। ईरान का सीस्तान प्रदेश शकों के नाम से शकस्तान या सीस्तान कहलाया। पाणिनी ने अपनी अष्टध्यायी में 'शक शूद्राणानाम्' सूत्र से शकों की ओर संकेत किया है। पाणिनी का काल ई०पू० चौथी-पांचवीं सदी माना जाता है, पर शकों से भारतीयों का सम्पर्क ई०स० की पहली शताब्दी में मुख्य रूप से हुआ। सम्भव है कि बहुत पहले से भारत वासी खश नाम के शकों से परिचित थे और पाणिनी का संकेत इन्हीं शकों से हो। खश लोग पाणिनी से पूर्ववर्ती समय में काश्मीर, स्वात-घाटी तथा सिन्ध और हिन्दुकुश के बीच के क्षेत्र में फैल चुके थे और यह भी सम्भव है कि इनका प्रसार पूर्व दिशा की ओर जालन्धर खण्ड और गढ़वाल की ओर हो चुका हो और इनके गणराज्य इस क्षेत्र में स्थापित हो चुके हों। वैसे पारवर्ती काल में आने वाले शकों का भी हिमालय क्षेत्र से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। काबुल और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में कनिष्क के वंशधरों का राज्य तुर्की शाही राजाओं के नाम से ग्यारहवीं सदी तक रहा। अरबों के आक्रमण इस राज्य पर आठवीं सदी से आरम्भ हो गये थे।

क्षेत्रीय नामों से खशों का सम्बन्ध :

ऐटकिन्सन ने काश्मीर एवं हिन्दुकुश और सिन्ध नदी के मध्य भाग को खशों की स्मृति से सम्बद्ध किया है। खश नाम चित्राल, गिलगित, स्वात-उपत्यका और काफीरीस्तान में नदी, पहाड़ों और अन्य स्थानीय नामों से सम्बद्ध है। हिन्दुकुश और सिन्ध के बीच का क्षेत्र खोस (खश) डिवियन कहलाता है। खोस या खश शब्द कई नदियों और पहाड़ों के नाम से जुड़ा है; यहां की नदियों के नाम खोस, खोसपिन, खसपिन आदि हैं। हिन्दुकुश और काश्मीर नाम भी इसी प्रकार के प्रतीत होते हैं, काश्गर को भी खश नाम से जोड़ा जाता है। कुणार उपत्यका के ऊपरी भाग कक्षार (खशकार) कहते हैं। इसके उत्तरी भाग को लुरी-खो, मध्य को मुल-खो और निचले भाग को लुड-खो कहते हैं। 'खो' शब्द का सम्बन्ध खश नाम से प्रतीत होता है, किसी समय यह क्षेत्र खश जाति के प्रभुत्व का क्षेत्र रहा होगा।

नाग जाति :

उत्तरी भारत, विशेषत: हिमालय क्षेत्र में नाग जाति का प्रभाव आदिम युग से सदियों बाद तक रहा। यह नाग-उपासक जाति थी और शैव धर्म से भी इसका सम्बन्ध बताया जाता है, ये कौन लोग थे; यह विवाद का विषय है। सम्भवत: इनका सम्बन्ध सिन्ध सभ्यता से हो; शिव और नाग उपासना के तत्व इस सभ्यता के धर्म में विद्यमान थे। आर्यों का नाग जाति से सदियों तक संघर्ष रहा। इस संघर्ष की ध्वनि पौराणिक वांग्मय में नाग-यक्ष आख्यान से स्पष्ट मिलती है। खाण्डव-दहन का आख्यान महाभारत की एक मुख्य घटना है। यह आख्यान इस संघर्ष का प्रतीकात्मक रूप है। परन्तु इस संघर्ष की परिणिति आर्य और नाग-संस्कृति के मेल और समन्वय में हुई। सम्भवत: इसमें कई सदियों का समय लगा हो। इस समन्वय का परिणाम यह हुआ कि नाग जाति का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हुआ—यह जाति नीर-क्षीर की भान्ति आर्य या भारतीय जीवन और संस्कृति में घुलमिल गई। आर्य और नाग का भेद समूल नष्ट हो गया और नाग जाति का कुछ शेष रहा तो वह नाम पूजा मात्र है। आरम्भिक संघर्ष में यह स्वाभाविक था कि नाग जाति जो आर्यों के आने से पहले इस देश में बसी थी, इधर-उधर बिखर गई हो। इनमें अधिकांश हिमालय क्षेत्र की ओर गये हों क्योंकि इस क्षेत्र में काश्मीर से लेकर कुमाऊं–नैपाल तक नागों की पूजा और परम्परा व्याप्त है, अनेकों स्थानों के नाम नाग शब्द से सम्बद्ध हैं। स्थान-स्थान पर नाग मन्दिर है और नाग जलाशय हैं जहां नागों का बास माना जा है। धर्मशाला के निकट भाग्सू नाग, किन्नौर में ब्रुवा नाग, ठयोग में महासू नाग, करसोग में महू नाग एवं बिलासपुर में गूगा नाग प्रसिद्ध हैं। गढ़वाल में तो एक परगने का नाम ही नागपुर है, इस क्षेत्र में पाण्डुकेश्वर में शेष नाग, रतगांव में भेखल नाग, नलौर में संगल नाग, पुष्कर नाग, काकस नागनाथ आदि माने जाते हैं। दून क्षेत्र में भी नाग सिद्ध और वामन नाग के मन्दिर कई स्थानों पर हैं। अब नाग-पूजा वैष्णव धर्म का अभिभाज्य अंग है।

सम्भव है कि खशों के आने पर नागों के साथ इनका संघर्ष हुआ हो; परन्तु लोक परम्परा में ऐसी कोई किंवदन्ति या जन-श्रुति नहीं है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कश्यप की पत्नी कद्रू नाग कन्या थी और उसकी सन्तान नाग, यक्ष और राक्षस हुए। यक्ष और राक्षस खश नाम के पर्यायवाची रूप हैं, इसमें खश और नाग जाति के मेल और समन्वय की ध्वनि मिलती है। 'राक्षस'

शब्द कालान्तर में बुरे भाव का द्योतक बना, परन्तु आरम्भिक युग में यह नाम वाचक और जाति द्योतक शब्द था। विशाखादत्त के नाटक मुद्राराक्षस में महानन्द का आमात्य 'राक्षस' नाम का था। यह नाटक का प्रमुख पात्र है।

ऐतिहासिक युग में हमें भारत में सर्व प्रथम नाग राजाओं के दर्शन होते हैं: मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य से पहले शैशुनाग राज्य करते थे। नन्द वंश भी नाग वंश से सम्बद्ध था। सबसे अधिक ज्ञात राजा इस वंश का बिम्बसार या श्रेणिक था और उसके बाद कुणिक या अजातशत्रु हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य महानन्द का पुत्र था, परन्तु पारिवारिक कलह के कारण उपेक्षित और तिरस्कृत था; परन्तु था नागों का ही वंशधर। उस युग तक आर्य, अनार्य, नाग, किरात आदि का भेद-भाव सर्वथा समाप्त नहीं तो नगण्य हो चुका था। यदि मत-भेद था तो धार्मिक विचारों और मतमतान्तरों का। यह समय बौद्ध और जैन मतों के उदय का युग था। आर्य और अनार्य के झगड़े का नहीं था

कुषाणों के पराभव के बाद तीसरी-चौथी शताब्दी में एक बार पुन: भारत में नाग राजाओं का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार उस युग में विदिशा, कान्तिपुर, मथुरा और पद्मावती में भारशिव नागों का शासन था इन भारशिव नाग राजाओं में भव नाग प्रतापी राजा हुआ। कहते हैं कि शिव लिंग को ये राजा भार रूप में सदा कन्धे पर रख कर चलते थे। शिव इस भक्ति से सन्तुष्ट हुए और फल स्वरूप इनको राजा-पद और शासन का गौरव मिला। भारशिव राजाओं के द्वारा काशी में दशाश्व-मेध घाट पर दस अश्व-मेध यज्ञों के करने का आख्यान आता है जिस के कारण इस घाट का नाम दशाश्व मेध घाट पड़ा।

अन्य वर्ग :

पर्वतीय क्षेत्र में खश और नाग जातियों के अलावा कोल और किरात भी यहां की जनसंख्या के अंश हैं। किरात पुरातन युग में सम्भवत: वन-वासी लोग थे जो कालान्तर तक कन्द-मूल और फल एकत्रित करके एवं मृगया से जीवन यापन करते थे। संसार के कई भागों में आज भी ऐसी पिछड़ी हुई और उपेक्षित जन जातियां हैं जो इस प्रकार से जीवन यापन करती हैं। परन्तु आज हिमालय क्षेत्र में ऐसी कोई जाति नहीं जिन को हम किरातों के वंशज कह सकें। सभ्यता के प्रसार के साथ यह जाति खश और अन्य जातियों के साथ कदाचित् इस प्रकार घुलमिल गई कि इसका अलग अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता है और न ही ज्ञात इतिहास इनके बारे में कुछ बताने में समर्थ है। बहुत पुराने समय में किरात नाम से यह वन्य जाति थी; बस इतना ही निर्विवाद ज्ञात है। पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में कोली आधुनिक हरिजनों की कोटि में आते हैं, यह कहना कठिन है कि कोल से कोली वर्ग की उत्पत्ति हुई है। यह जाति आर्यों की वर्ण व्यवस्था की देन प्रतीत होती है, यह जाति किसी भिन्न वंश या प्रजाति से सम्बद्ध नहीं है। खश या आर्य जाति का यह उपेक्षित वर्ग है जो व्यवसायिक, धार्मिक व अन्य सामाजिक परिस्थितियों से निम्न स्तर का समझा जाता था। इनका रंग रूप, आचार-विचार और आस्थाएं अन्य जातियों से भिन्न नहीं हैं।

सेमवाल सदन, इंजनघर,
संजौली, शिमला-६।

कांगड़ा के संस्कार गीतों में नारी

—रमेश शर्मा 'अरुण'

साहित्य में नारी का अपना ही एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यदि हम विश्व साहित्य का अवलोकन करें तो हमें इसमें जिस बात का अत्यधिक वर्णन मिलता है, वह है नारी चित्रण। इसी बात का एक अन्य पहलू भी है, क्योंकि साहित्य में शृंगार रस को 'रस-राज' की संज्ञा से अभिहीत किया गया है और फिर शृंगार रस में नारी के सौन्दर्य से उसकी भाव-भंगिमाओं ही की तो अभिव्यक्ति मिलती है अतः इसे देख कर यूं कहा जाये कि 'रस-राज' की जन्मदात्री नारी ही है तो अतिशयोक्ति न होगी। नारी की भाव-भंगिमाओं, उसके आदर्श सब क्रिया कलापों तथा त्याग का चित्रण साहित्य की काव्य विधा में उर्वशी, दमयन्ती, सीता, द्रोपदी के रूप में हुआ है परन्तु इतना कुछ होते हुए भी नारी जीवन को आज तक एक पहेली से अधिक कुछ नहीं समझा गया। 'रस-राज' की जन्मदात्री नारी को मिट्टी का खिलौना समझा गया। उसे पांव में बन्धे घुंगरू की तरह एक निर्जीव वस्तु समझा गया। किसी ने भी उसके अन्तर्मन उसके दिल के आन्तरिक कोने को टटोलने का प्रयास न किया। उसके दिल की थाह किसी ने न ली। आधुनिक कवियों ने तो नारी को एक बुझौवल से अधिक कुछ न जाना। यहां तक कि मनु के लिए श्रद्धा का आगमन एक नव ज्योति एवं नवीन प्रेरणा था परन्तु फिर भी कामायनीकार प्रसाद ने मनु के माध्यम से नारी को एक पहेली कहलवाया :

'हे अनन्त रमणीय कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता ?'

सुमित्रा नन्दन पन्त जो पहले नारी को **'किस के उर में उतारूं, अपने उर का भार'** कह कर प्रेरणा स्रोत मानते रहे पर बाद में प्रकृति में इतने विलीन एवं चिर मग्न हो गए कि वे नारी के अरमानों को भूल गए और उसके प्रति अपनी असमर्थता प्रकट करने लगे :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले ! तेरे बाल जाल में, कैसे उलझा दूं लोचन ॥

आधुनिकता के परिवेश में ही नारी की विवशता की कहानी नहीं आरम्भ हुई। संस्कृत के साहित्य में तो नारी को इतना पराधीन समझा गया कि मानों उसका अपना अस्तित्व ही न हो इस कारण तद् युगीन कवियों की एक धारणा सी ही बन गई कि :

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने,
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।

अतः कहना न होगा कि उस समय से लेकर नारी की स्थिति गिरती ही चली गई। वैदिक काल में जिसे बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त था वह रामायण काल में अनुचर बन कर रह गई। यहां तक कि आदर्श पुरुष राम ने नारी की अवस्था को सुधारने के लिए उसे आदर्शों की बलिवेदी पर लगा दिया। महाभारत काल में तो नारी की इस अवस्था में इतनी गिरावट आ गई कि वह केवल मात्र पुरुष की एक भोग्य बन कर रह गई जिसे जुए में हारा जा सकता था, जिसे बेचा जा सकता था, जो पांच भाइयों की एक सांझी औरत बन सकती थी और उसकी अपनी भावनाओं का कोई स्थान न था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया अन्य सामाजिक कुरीतियां नारी को दबोचती चली गईं जिन में बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि प्रमुख थीं।

अब जहां लोक-साहित्य की विधा लोक-गीतों में नारी-चित्रण का सम्बन्ध है लोक-गीतों की सभी श्रेणियों में नारी एक उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। संस्कार विषयक लोक-गीतों की तो उसे अधिष्ठात्री ही कहा जा सकता है, वही उनकी अविष्कारक, प्रणेता एवं कण्ठ-दात्री भी है अतः इतने कुछ होते हुए यदि लोक-गीत (संस्कार विषयक) उसके सामायिक उतार चढ़ाव, उसकी सहृयता, उसकी मार्मिकता एव उसकी युगीन उदारता का चित्रण करें तो वह स्वभाविक ही है।

कांगड़ा के संस्कार गीतों में नारी एक प्रधान पात्र के रूप से सामने आई है जैसे कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि संस्कार गीतों की जन्मदात्री नारी ही रही है और जब जैसी भी परिस्थितियां उसके सामने आईं, जिस भी पर्यावरण को उसने भोगा उन्हीं का ही मुंह बोलता चित्र उसने गीतों के माध्यम से जग को दे दिया। इस प्रकार कांगड़ा के संस्कार गीतों का यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से मूल्यांकन करें तो इनमें जिन तत्वों का मुख्य रूप में प्रतिफलन हुआ है उनमें उसकी ममत्व भावना, मातृत्व प्रेम, उसका त्याग, उदारता, उसके उच्च आदर्शों का अंकन आदि प्रमुख हैं।

कांगड़ा जनपद में गाये जाने वाले गीतों में मां को काफी उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस सम्बन्ध में कई संस्कार गीत इसका स्वयं ही मुंह बोलते चित्र उतारते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार में जब बालक एक योगी का रूप धारण करता है तो वह सब से पहले अपनी मां से ही भिक्षा मांगता है क्योंकि कांगड़ी जन-मानस का यह विश्वास है कि यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही बालक असली ब्राह्मण बनता है। उस समय बालक भिक्षा पात्र को आगे अपनी मां के पास करता है तो गीत एक नवीन छटा एवं भावुकता सी बिखेर देता है:

मैं नौआं जोगी आया मेरी माता जी,
मैं नौआं जोगी आया......
दिन्यों...दिन्यों भिछिया मेरी माता जी,
मैं नौआँ जोगी आया......
छोटा देहया भट्ट-भटेऊ मंगदा जनेऊ...... ।

इसी प्रकार ही विवाह के समय जब वर व्याहने चलता है तो उससे पहले वर की मां उसे स्तन पान करवाती है। उस समय गाये जाने वाले गीत में भी वर यह प्रतिज्ञा लेता है कि "हे मां!

मुझे अपना स्तन पान करवाओ, इन स्तनों का दूध पी कर मैं इतना बड़ा हुआ था ... मां जिन बातों की तूने कल्पना की थी वे आज साकार होने जा रही हैं" :

चिच्चू दियां अम्बड़िये तू घूट्टू दियाँ माये
तेरियां तां चिचुआं माये बड्डा होया
जे गल्लां चिन्दियां माये सैह गल्लां होइयां ।

इसी प्रकार ही अन्य संस्कार गीतों में भी मां को साक्षात् ममत्व की मूरत एवं देवी-प्रतिमा के रूप में अंकित किया गया है ।

कांगड़ी जनपद में कन्या को उतना उपेक्षित नहीं समझा जाता जितना कि देश के अन्य भागों में । यहां तक कि कई परिवार तो कन्यादान के लिए तरसते हैं और फिर जिस घर में लड़के ही हों तथा लड़की कोई न हो वे लोग किसी अन्य की लड़की को पाल-पोस कर उसका विवाह कर अर्थात् उसका कन्यादान करने के उपरान्त अपने आपको, तथा अपने मानवीय जीवन को धन्य समझते हैं क्योंकि कांगड़ा के लोगों का विश्वास है कि जिन लोगों ने पूर्णिमा का व्रत नहीं किया, जिन्होंने कन्या का दान नहीं किया वे संसार में क्यों आए अर्थात् उनका इस संसार में आना व्यर्थ है । फिर भी पुत्रोत्पत्ति की लालसा ने कांगड़ी समाज पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमाया हुआ है । जैसे पुत्र के जन्म लेने पर घर में खुशी की लहर छाना तथा पुत्र को जन्म देने वाली मां का स्थान यहां इस संस्कार गीत में दृष्टव्य हैं :

सौहरा कैहन्दा नूयें पी लाइचियां,
तें साडा कुल वो वधाया, नूयें तुस्सां पी लाइचियां ।

और फिर इसके साथ ही पुत्री की विदाई, उसका बाबुल का घर छोड़ कर जाने पर लड़की को एक चिड़िया से अधिक कुछ नहीं समझा जाता :

अंगणें तुम्हारे भौआ सोने दी चिड़िया ।
चोग चुगी उड़ी जाणा मेरे भौआ जी ।
माई तां रोंदी भिगी जाँवा पलुआ ।
भौआ रोंदी गलें लाई मेरे भौआ जी...।

इसके साथ ही कन्या का अपने पिता जी से यह प्रश्न करना कि पिता जी मुझे आपने इतना पाला-पोशा और फिर आज मुझे अपनी गोदी से क्यों अलग कर रहे हैं क्या आप को मैं भारी लगी या फिर जो खाना मैं आपके घर का खाती हूं वह आप को अखर रहा है :

क्या जी भौआ तुस्सां जो मैं भारी लग्गी,
क्या मेरा खाण है भारी......
नां जी धीये अस्सां जो तू भारी लग्गी
नां तेरा खाण है भारी......
भारी लग्गी तू जिन्हां पढ़यां जे पण्डता
जिन्हां तेरा लग्न जुड़ाया ।

कांगड़ा की नारी यहां के कई संस्कार गीतों में एक आदर्श भाभी एवं एक आदर्श बहन के रूप में भी मुखरित हुई है। कांगड़ा जनपद में यह प्रथा है कि जब वर ब्याहने 'चलता है तो कपड़े आदि पहनने के उपरान्त उसकी भाभी उसके नयनों में काजल डालती है। इस काजल डालने के बारे में कहा है कि 'यह अन्जन नेत्रों के दोषों को दूर करता है अतः मैं इसे लगाता हुं कि मेरे नयनों में प्रकाश हो।'[1]

उस समय गाये जाने वाले गीतों में जहां भाभी का देवर को अशीष देने की भावना का प्रतिफलन मिलता है वहां पर बहन की चिन्ता एवं दूर तक पदयात्रा के प्रति भाई के द्वारा जल्दी चलने का आग्रह, बहन के द्वारा भाई को शुभकामनाएं, तथा सालियों द्वारा की जाने वाली शरारतों से पूर्व ही भाई को परिचित करवाना प्रमुख हैं :

सेहरा पहनी वीरा अज्ज तुस्सां सोहरियां जाणा।
जेबां पाई लै वीरा लोंग लाचिया दाणा।
सालियां मंगदियां वीरा लोंग लाचिया दाणा।

वधु के रूप में भी कांगड़ी नारी का अपना ही एक अनुपम आदर्श है। वह चाहती है कि उसका सारा जीवन परिवार के सदस्यों के आशीष के साये तले बीते वह कभी भी अपने द्वारा पारिवारिक सम्पर्क में दरार नहीं आने देती। वह चाहती है कि उसका परिवार फलता फूलता रहे। वह अपने सास-ससुर को माता-पिता तथा ननद-देवर को बहन-भाई के रूप में आदर देती है। यथा :

हस्सणा खेलणा मन्दा नी बोलणा मेरे प्यारिया
क्या लई जाणा संसारे दा ए......
हुण तिज्जो पुच्छां मेरिए कुल बहुए वो सुहागणी
क्या तिज्जो चाहिदा ए .....
सस्स चाहिबी सणें सौहरें मेरे प्यारिया
खिन्नुए खेलदा देर भी ए...... ।

कांगड़ा जनपद की नारी का दाम्पत्य प्रेम चित्रण यहां के बहुत से संस्कार गीतों में अपनी अठखेलियां करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। कांगड़ी नारी अपने सर्वस्व से अपने पति की वस्तु कहलाना चाहती है वह सुख मे उसकी संगिनी है तो दुख में एक प्रेरणा-स्रोत चाहे कैसी भी परिस्थितियों का उसे सामना करना पड़े पर वह अपनी मांग के सिन्दूर पर आंच नहीं आने देती उसकी पावनता, नारी की पतिव्रत्य धर्म का चित्र यहां के संस्कार गीत कम नहीं उकेरते। यहां कांगड़ा जनपद में माथे की बिन्दिया, लाल डारे, लाल चूड़ियों को विवाहिता का चिन्ह समझा जाता है। अतः यहां की लड़कियां विवाह पूर्व उपरोक्त कुछ भी नहीं धारण करती। इसी का कारण है कि कन्या को जब 'कन्यादान' के समय पण्डाल में लाया जाता है तो वह बिल्कुल हार शृंगार रहित होती है। इसका चित्रण करते कन्या दान के समय कई गीत गाये जाते हैं :

---

1. वृत्तास्यासी कनीन वृक्षक्षुर्वा असिचक्षुर्मे देहि—
पं० चन्द्रमणि उपाध्याय : संस्कार सूर्योदय (तृतीय भाग) संस्करण १९४४ पृष्ठ ९।

उंगियां कंघिया न लायां नलेटड़िये,
मैं हुन्दी कन्या कुआरी ए...... ।
सिरें डोरियां न लायां नलेटड़िये,
मैं हुन्दी कन्या कुआरी ए...... ।
मत्थें बिन्दिया न लायां नलेटड़िये,
मैं हुन्दी कन्या कुआरी ए...... ।

यहां आकर एक अन्य पहलू पर भी विचार कर लिया जाये तो वह सम्भवतः असंगत न होगा और वह है कांगड़ी नारी की आभूषण प्रियता। यहां नारियां मेले, विवाह आदि मांगलिक अवसरों एवं तीज-त्यौहार को अपने पूर्ण आभूषणों से सुसज्जित हुई दिखाई देती हैं। इसी आभूषण प्रियता को यहां कई बार उपरोक्त मांगलिक अवसरों के बिना भी देखा जा सकता है। इस जनपद में अनेक गीत ऐसे मिलते हैं जिन में आभूषणों की ही चर्चा है। जैसे :

दीबड़ दे दो वणजारे आये
करदे वणज बपार ए
इक्की दें हत्थें भौआ सोने दियां सगलियां
दुये दें हत्थें तितर मोर ए......
कंत तां लाणियां धिये सोने दियां संगलियां
कंत तां लाणे तितर मोर ए......
बालुये तां लाणियां भौआ सोने दियां संगलियां
वेदी तां लाणे तितर मोर ए......

कांगड़ा जनपद में यह प्रथा है कि बालू (नाक का गहना) मामा जी तथा कान एवं पांव के चान्दी के कुछ आभूषण माता-पिता देते हैं। शेष आभूषण वर पक्ष की तरफ से कन्या को दिए जाते हैं। जिन में शृंगार-पट्टी, मान-टीका, कण्ठी, कंगन, अंगूठी आदि प्रमुख हैं। कई बार कन्या के मां-बाप अपनी गरीबी के कारण अपनी तरफ से कुछ भी नहीं दे पाते। केवल मात्र कोरे कन्या-दान को ही अपनी आकांक्षाओं का प्रतिफलन समझ कर मन-मसोस कर रह जाते हैं तो फिर कन्या की विवशता तो देखिये जो वह भांवर पड़ते समय गीत के माध्यम से व्यक्त करती हैं :

हौलें-हौलें चल शम्भू जी
पैरां ते है मैं नंगी।
पैरां तिज्जो झांजर दिंगा
लाज लग्गे तेरियां मापियां।
डाहियां मत लान्दे शम्भू जी
मापे पल्ले दे हन खाली।

लेकिन जहां कांगड़ी नारी अपने सास-ससुर, देवर-ननद को अपना पूरा आदर एवं दुलार देती है, जहां उसका पतिव्रत्य धर्म पावनता की उच्च भाव-भूमि से आरम्भ होता है वहां उसके

ऊपर होने वाले पाशविक एवं मनमाने अत्याचारों से मुख मोड़ा नहीं जा सकता। यहां कांगड़ा जनपद में वधु से हर तरह के कार्य में दक्षता तथा उससे पूर्ण पावनता की अपेक्षा की जाती है। कई सास-ससुर तो उसे अपनी आंखों में बस सेविका से अधिक कुछ नहीं समझते। तरह-तरह के कड़वे वाक्य एवं व्यंग्य उसे देने में वे कभी नहीं चूकते। वे यह कभी नहीं समझते कि अमुक वहू भी किसी की बेटी है। इसी कारण ही वे अपनी बेटी के माध्यम से वहू को जली-कटी सुनाते हैं। यही कारण है कि यहां एक कहावत प्रसिद्ध हो गई है कि **'धीये तिज्जो ग्लाया, नूहें तूं कन्न कर... ।'** जब बेचारी वधु काफी तंग हो जाती है तो मां का ममत्व तथा अतीत अर्थात् बचपन की स्मृतियां उसकी आंखों में अश्रु बन फूट पड़ती है और वह मां को सन्देश भेजती है :

पुनिया दी परगड़ी होई मेरे भौग्रा जी,
सस्स सानू खेलण नहीं दिन्दी ए... ।
दिने कशीदा कढांदी मेरे भौग्रा जी,
राती जो चरखा ढलांदी ए...... ।

और फिर साथ ही जब वधु ने बालक को जन्म दिया है तथा उसे खुराक एवं कुछ आराम की आवश्यकता है तो सास का बहू पर व्यवहार दृष्टव्य है :

घोलुग्रां कठीड़िया दा सस्सूं भत्त रिद्धा,
उप्पर दहियें दा टरूरा दित्ता
उप्पर लूणे दा बरूरा दित्ता
तू खाई लिग्राँ नूहे नखरे लणियें
गोहे चकायां घराला जाई ए... ।

यहां तक कि सास वधु को बस कहीं-कहीं पर तो एक मशीन ही समझ बैठती है। उससे वेला कुवेला हर कार्य की भी अपेक्षा की जाती है। फिर ससुराल में बेचारी को आराम कहां......

संझकिया बेला जी सस्सूं झगड़ा जे पाया,
दूरा दा भरना जलिया पाणी ए...... ।
कट्टू तरहाये वो नूंहें बिच्छू तरहाये,
सुकी वो गई मरूये क्यारी ए...... ।

नारी की व्यथाओं की यह कहानी यहीं आकर समाप्त नहीं हीं जाती। कहीं-कहीं तो वह पति से भी उपेक्षित है। वह प्रियतम की प्रतीक्षा में, उसकी राह निहारते अपने दुखते कसकते क्षणों को काट रही है पर पति का आगमन उसे वांछित सुख नहीं दे पाता......

बारहियें बरहियें जी कन्ध घरें आया
मंगदा सोयां दा साग, कि कन्धा परदेसिया
सस्सु दिया चोरिया, नणाना दिया सौगी,
जांदी है मालिये दे बाग, कि कन्धा परदेसिया

पर जब इतनी व्यथाओं को झेलने, इतनी प्रतीक्षा के उपरान्त अपने सपनों को साकार करने हेतु उसने सोये का साग बड़े चाव से बनाया और थाल में सजा कर अपने प्रियतम के पास ले गई तो प्रियतम ने व्यंजनों से सजी थाली को लात मार दी। बस फिर क्या था बेचारी विरहिन की बगिया जो वर्षों उपरान्त हरी हुई थी एक ही झटके से पतझड़ ग्रसित हो गई। उसने जहर का कटोरा पिया और चौबारे पर जा कर चिर निद्रा में सो गई। कई दिनों का पनपता प्रण्य उपेक्षा का एक झोंका भी न सह सका :

भरिया कटोरा गोरियें जहरे दा पीता,
जाई सुत्ती चो चबारे,
कि कन्धा श्रो गुमानियां ।

अतः कहना न होगा कि कांगड़ी नारी एक आदर्श है। वह अपनी पावनता एवं उच्चता की स्वयं एक जीवन्त मिशाल। दुःखों एवं पराभवों से ग्रसित होने पर भी वह कभी अपने कर्त्तव्य से विमुख एवं च्युत नहीं होती। कांगड़ी लोक-गीतों में नारी के इन उच्च आदर्शों एवं कर्त्तव्य-पराणयता का सजीव चित्रण मिलता है। जहां नारी एक आदर्श मां, आदर्श बहन, आदर्श पत्नी, आदर्श सलाहकार एवं आदर्शों का एक उज्जवल मूर्ति बन कर उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित की गई है।

राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय,
गढ़ जमूला (कांगड़ा)

कमलाह तथा अनन्तपुर गढ़

डा० कांशीराम 'आत्रेय'

मण्डी नगर की प्रमुख दो ऐतिहासिक प्रसिद्ध बातों के कारण यहां की धरती को गढ़ों और मढ़ियों थड़ों (देव स्थानों) की धरती कहना युक्ति संगत प्रतीत होता है। इस क्षेत्र के गढ़ों के कुछ नामों और संख्या का गतांक में वर्णन कर दिया है। यहां के इन गढ़ों के साथ ही हमारे प्राचीन इतिहास की लड़ियां और कड़ियां भी जुड़ी हुई हैं। हिमाचल के सब जिलों में गढ़ों के खण्डहर विद्यमान हैं। हिमाचल प्रदेश ही क्यों गढ़वाल के नाम के विषय में भी यही बात विख्यात है। अपने गढ़ों के कारण ही इसका नाम भी गढ़वाल पड़ा है। प्राचीन भूगोल में 'आयुद्ध जीवी संघ' जिस क्षेत्र का नाम पहले भी वर्णन कर दिया गया है उसमें गढ़वाल तक के क्षेत्र विद्यमान हैं। सम्भवतः वर्तमान कांगड़ा से गढ़वाल तक के राज्यों का ही अपने सैकड़ों गढ़ों के साथ हिमाचल के क्षेत्र में शासन था। वैदिक काल के पुराने इतिहास में गढ़ों की वर्तमानता तथा ऐतिहासिक ख्याति प्राचीन प्रतीत होती है। चितौड़गढ़ तथा अन्य कई प्रमुख गढ़ों के वर्णन के साथ भारत भर का इतिहास बिखरा पड़ा है। इन गढ़ों द्वारा प्रमाण के रूप में इतिहास के प्राचीन सूत्र जोड़ने में सुविधा रहती है। पहाड़ी स्थानों में इन गढ़ों की स्थिति और भी दुर्भेद्य और दृढ़ थी। इसका कारण यह था कि पहाड़ी दुर्गम स्थानों में मैदानी जातियां सुगमता पूर्वक नहीं आ सकती थी। जो जातियां यहां आ जाती थीं वे तो अपने को सुरक्षित समझ कर यहां के गढ़ों की रक्षा तथा आक्रमणकारियों का दृढ़ता पूर्वक सामना करती थीं। यही कारण है कि किरात राजा शम्बर ने भी विस्तृत पहाड़ी प्रदेश में सौ गढ़ों के क्षेत्र में अपने शासन की धाक जमाई हुई थी, जिससे पूरे चालीस वर्षों तक वह दिवोदास, सुदास के दांत खट्टे करता रहा था। भारत के मैदानी भागों की अपेक्षा पहाड़ी क्षेत्रों में गढ़ों की स्थिति दुर्द्धर्ष समझी जाती रही है। जितने गढ़ पहाड़ी क्षेत्रों में थे सभी दुर्गम और उच्चतर स्थानों में ही स्थित थे। इन गढ़ों की बहुसंख्या द्वारा किसी क्षेत्र की अपठकुराइयों और गढ़पतियों की संख्या का पता चलता है। प्राचीन समय में पाणिनी के मतानुसार प्रत्येक जनपद का नाम क्षत्रिय कुल के नाम से ही चलता था। यह बात इस क्षेत्र के विषय में भी सत्य प्रतीत होती है। यहां सब गढ़पति और गढ़ किसी राणा ठाकुर अथवा क्षत्रिय वंशज के नाम से सम्बन्धित रहे हैं। क्षत्रियों (राणाओं और ठाकुरों) की ख्याति इन गढ़ों की ख्याति के साथ जुडी हुई है। प्राचीन काल में प्रमुख युद्ध विधान की विधि गढ़ों को घेरा डालने तक ही सीमित थी। उस काल के युद्ध विधान व युद्ध सामग्री आदि का इन गढ़ों के इतिहास से पूरा ज्ञान होता है। गढ़ कांगड़ा के विषय में प्रसिद्ध है कि इनकी दृढ़ता और दुर्द्धर्षता के सामने दारा और सिकन्दर को भी इसकी ख्याति सुन कर दूर से ही भागना पड़ा था। इसी गढ़ के सामने हमीरपुर तथा पालमपुर के मध्य मण्डी नगर का प्राचीन कालर जनपद (शासकीय खण्ड) भी स्थित है। इस क्षेत्र में अलग-अलग दो स्थानों पर कमलाह गढ़

तथा अनन्तपुर गढ़ स्थित हैं। इनकी प्राचीन कहानी के साथ मंडी के इतिहास और सांस्कृतिक गौरव का घनिष्ठ नाता रहा है।

कमलाह गढ़ :

यह मंडी जिला की सरकाघाट तहसील में हमीरपुर के पूर्व में स्थित है। यह सम्भवतः १६२५ ई० में राजा सूरजसैन ने बनवाया था। इसकी स्थापना के मुमुहूर्त्त का काल लौंगणी के एक पण्डित ने निकाला था। इसकी स्थिति प्राचीन स्थान कालर में थी। कालर यही क्षेत्र है जहां मंडी के कमलाह, सिद्धपुर तथा अनन्तपुर क्षेत्र हैं। कमलाह गढ़ समुद्र तल से ४४७१ फुट ऊंचाई पर स्थित है। यह गढ़ दुर्भेद्य समझा जाता रहा है। यह कलापूर्ण विधि से अनेक भूल-भुलैयां मार्गों द्वारा निर्माण किया गया था। ऊंचे स्थान पर स्थित होने के कारण शत्रु को मुंह की खाकर हटना पड़ता था। सम्भवतः राजा अजबरसैन से पूर्व तक कमलाह तथा कालर दो स्वतन्त्र जनपद थे। उसने अन्य राणाओं की अपठकुराइयों के समान इनको भी अपने शासन में मिलाया। मंडी में ग्रिफिन एक यात्री आया था, जिसने अपनी यात्रा वृतान्त में लिखा है कि मंडी का कमलाह-गढ़ पहाड़ी प्रदेश में सब गढ़ों में प्रमुख गढ़ है। इस पर मंडी की स्वतन्त्रता निर्भर रही है। यह गढ़ बक्कर खड्ड के पश्चिमी तट पर है। बक्कर खड्ड के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति द्वारा इस क्षेत्र की धरती और लोगों के विषय में पूर्णतया परिचय प्राप्त होता है :

'बक्कर खड्ड सभी खड्डां री राणी
न हिउन्दा धुप न तौंदिया पाणी,
बरसाती जान किहां बचाणी।'

लोकोक्ति का अर्थ है कि बक्कर खड्ड मंडी कांगड़ा सीमा पर स्थित है। और यहां पर ग्रीष्म काल में पानी की बून्द तक भी नहीं मिलती है और शीत काल में धूप नहीं लगती हैं किन्तु बरसात की बाढ़ में पत्थर भी बहते चलते हैं, जिनमें जान का बचाना सुगम नहीं है। अतः इससे स्पष्ट पता चलता है कि यह गढ़ एक दुर्गम स्थान पर स्थित है जहां के लोगों का जनजीवन कठिनाइयों से जूझता हुआ अति साहसी और युद्ध प्रिय रहा है। आज भी इस क्षेत्र के बहु संख्यक लोग कांगड़ा की भान्ति सेना में भरती हैं। कमलाह गढ़ के विभिन्न छः पुरों के नाम कमलाह, चौकी, चौबारह, पदमपुर, शमशेरपुर तथा नरसिंघपुर है। ये सब कमलाह की धरती में आज भी भग्नावस्था में विद्यमान हैं। इस गढ़ की नींव रखने का सुमुहूर्त-विचार लौंगणी के पण्डित ने किया था, जिसे इसी उपलक्ष में 'शाशन' (भूमिकर रहित भूमि) प्रदान किया गया था। इस गढ़ को संसारचन्द विजय करने की बहुत इच्छा रखता था किन्तु इसकी दुर्भेधावस्था देख कर मंडी विजय कर लेने पर भी इसे युद्ध करके विजय न कर सका था। यह गढ़ सिक्ख काल में १८४० ई० में जनरल वैंचुरा (वैंतुरा) की युद्ध नीति द्वारा विजय हो सका था। वैंतुरा फ्रांस के वाटरलू के युद्ध में भाग लेने वाले अनुभवी सेनापतियों में से थे। नैपोलियन विश्व प्रसिद्ध योद्धा के साथ युद्ध में भाग लेने वाले फ्रांसीसी सेनापतियों के समान प्रशिक्षित वैंतुरा मंडी में कमलाह विजय करने के लिए आए थे। सिक्खों के १८४६ ई० के युद्ध के समय भी कमलाह के सभी गांव में लूटमार की गई थी और

tharahkardu.in

कई गांव में आग भी लगाई गई थी। कुल्लू को बढ़ती बार पहले इस गढ़ को जीतना आवश्यक समझते थे। मंडी के सिक्खों की ६००० सेना भी एक अंग्रेज सेनापति फाल्केस के अधीन रखी गई थी। जो कमलाह गढ़ में विजय के कारण वैंतुरा के साथ प्रसिद्धि प्राप्त कर गये थे किन्तु सिक्ख सेना ने विद्रोह कर के उसका बध कर डाला था। इसकी दुर्विजयता के कारण सब बाह्यागन्तुक इसकी दृढ़ता देख कर इसके आगे बढ़ने से डरते थे। कुछ वर्ष पूर्व तक इस दुर्ग में सैंकड़ों वर्ष पुराने अन्न, घी, शहद तथा अस्त्र-शस्त्र रखे गये थे। यहां एक नेगी (मुंशी), चार सिपाही और एक कायथ (प्रबन्धक) भी रहता था। यहां पुराने अन्नों जैसे सांवक और कांदरा का भण्डार जमा रहता था। यह निर्धन व्यक्तियों को सस्ते दामों पर दिया जाता था। मंडी के भीषण दुर्भिक्ष के दिनों यहां के जमा किए हुए अन्न का वितरण करके लोगों को राहत पहुंचाई गई थी। यह भी प्राचीन कालीन दुर्भिक्ष के समय का उत्तम प्रबन्ध और साधन था। कालान्तर में यहां से कुछ पुरातत्वीय सामग्री बस्ती भण्डार में भी रख दी गई थी और पुराने शस्त्रों को भी मंडी नगर में लाया गया था। इसके निर्माण में बड़ी विचित्र चक्रव्यूह की सी रचना की कला का प्रयोग हुआ था। इस में 'अन्धेरे तली' (एक अन्धकूप मार्ग) भी प्रवेश होने के लिए बनाया गया था, जिसमें अपरिचित शत्रु चला जाने पर बच नहीं पाता था। विदेशी यात्रियों तथा इतिहासकारों ने इस गढ़ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा और वर्णन किया है। ससारचन्द मंडी को विजय करने पर भी जब कमलाह को न जीत सका तो उसने मंडी के दो व्यक्तियों को घूंस देकर अपनी स्वार्थसिद्धि करनी चाही थी। उनके नाम मुरली तथा वजीर माणक थे किन्तु भागू नामक पालसरा ने भाण्डा फोड़ दिया।

ईर्ष्या और शत्रुता के कारण मियां कुलेशर तथा सलामतिया ने राजा को बहका दिया कि भागू संसारचन्द का गुप्तचर है और उसे जब मौका मिलेगा तब वह कमलाह गढ़ को संसारचन्द को बेच देगा। भय से अब वह अपनी जान बचा कर एक सौ मनुष्य लेकर सुरक्षित मंडी पहुंचना चाहता था, किन्तु मंडी राजा को झूठा समाचार भेज दिया कि भागू विद्रोह करता हुआ पकड़ा गया है। इस प्रकार निर्दोष भागू को फांसी की राजाज्ञा मिल गई। बेचारा भागू नमाज छुड़ाने चला था और गले रोज़े पड़ गये। एक अन्य व्यक्ति वजीर वैरागीराम को जो संसारचन्द से रूष्ट होकर जा मिला था कहलूर के युद्ध के समय खानू नामक व्यक्ति ने मौत के घाट उतार डाला और राजद्रोही होने के कारण उसका सिर कमलाह किला में ला कर उस पर सब ने जूते मार कर कोसा। वजीर वैरागी लड़ने से देशद्रोही निकले अतः उनका सिर कमलाह गढ़ से कई मील दूर सिद्धपुर में दबाया गया था।

सिद्धपुर कमलाहगढ़ से कई मील दूर व्यास नदी के तट पर स्थित है। यहां से लड, दलेड और टिकरू की विजय राजा सिद्धसैन ने सुगम समझी थी। टिकरू विजय करने पर बाबा बैजनाथ को प्रसन्न करने के लिए टिकरू गांव में ही मुआफी (कर रहित भूमि) प्रदान की थी। सिद्धपुर में राजधानी बनाने के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि राजा सिद्धसैन को जालपा देवी ने स्वप्न में मन्दिर बनाने के लिए आदेश किया था। अतः उसने सिद्धपुर में राजमहल भी बनाये और मन्दिर भी। धर्मपुर से कुछ दूर कंडा-पत्तन व्यास तट के समीपस्थ ही रावगढ़ का राणा मृत्यु-कर

वसूल करने लगा था, इस पर अप्रसन्न हो कर सिद्धसैन ने रावगढ़ को भी अपने अधीन कर लिया था। इसी सिद्धसैन ने अपने सम्बन्धी राणा पृथीपाल भंगाल वाले को विश्वासघात करके मार डाला था। आज भी उसकी लोक-गाथा मंडी, बिलासपुर तथा कांगड़ा में गाई जाती है। मंडी में उसकी टांगें और भुजायें सिद्धपुर में चारों कोनों में दबाई गईं थीं और सिर मध्य में जहां आज तक बत्ती जलाई जाती है वहां दबाया गया था। अब यहां पर घण्टाघर और एक वाचनालय भी है।

१६८६ ई० में गुलेर के राजा मानसिंह ने दो बार मंडी पर आक्रमण किया और आग भी लगाई थी। इसी काल उसने कालर जिला को भी विजय किया था। सम्भवतः गढ़ को वह अपने अधीन नहीं कर सका था। राजा शमशेरसैन के काल में १७४५ ई० में जालन्धर का राज्यपाल कांगड़ा के गुलेर, जसवाल, मानकोट, नूरपुर, कुटलैहड़ और भंगाल के राजाओं को विजय करता हुआ आगे बढ़ा और जयसिंहपुर तथा विजयपुर को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। ये सब राज्य (जनपद) वर्तमान कांगड़ा में ही थे। इन सब को विजय करने पर भी वह कमलाह गढ़ को विजय न कर सका और राजा मंडी से मैत्री करके विजयपुर मंडी को देकर राजा शमशेरसैन को उसे पुनः आबाद करने को कहा था। इससे प्रतीत होता है कि वर्तमान कमलाहगढ़ का महत्व ऐतिहासिक और सामरिक दृष्टि से अत्यन्त प्रमुख था। अदीनाबेग को कांगड़ा के शासकों ने कमलाहगढ़ की ख्याति और दुर्विजयी स्थिति के विषय में परिचित कर दिया था। इसकी धाक सुन कर उसने युक्ति से काम लिया और मंडी नरेश को मित्र बना कर गांठ लिया था।

अनन्तपुर गढ़ :

प्राचीन कालर तथा कमलाह क्षेत्र के निवासियों को 'कालरू' कहा जाता था। आज भी 'कालरू शब्द' के विषय में कुछ स्पष्ट पता नहीं चलता है। राजा शमशेर सैन के समय में जलेवदारों, कर्मचारियों में अधिक तर नीच जाति के थे। ये असवर्ण वर्ग के होकर भी जनेउ पहनना और पालकी में बैठकर बारात ले जाना चाहते थे। उस समय पिछड़े वर्गों पर उच्च वर्गों का बड़ा ही दमन-चक्र चलता था। उन्हें कई समान मानवीय अधिकारों से वंचित रखा जाता था। जूते पहन कर सुवर्ण वर्ग उन्हें अपने आंगन में से लांघने नहीं देते थे। पालकी पर बैठना उनका अधिकार ही नहीं समझा जाता था। इस कार्य के लिए राजा शमशेर ने शुद्धि की प्रथा चलाई। शुद्धि प्रथा में कई बार सवर्णों के साथ सहभोज करके उनको उच्च वर्ग में मिला लिया जाता था। इस कारण कई लोग राजा से अप्रसन्न थे। समय पाकर कालरू लोगों को बुलाया गया और सब असवर्ण लोगों को मारकाट कर भगा दिया गया। देवीचन्द कहलूरिया राजा भी शुद्धि प्रथा का मण्डी से अन्त करने के निमित बुलाया गया था। इस प्रकार प्रतीत होता है कि कहलूर के राजा और कालर के निवासियों के साथ आने से इस क्षेत्र को कालर कहा गया हो। कमलाह गढ़ भी मण्डी के इतिहास में कालर जनपद में स्थित बताया गया है। कालर में अनन्तपुर गढ़ का होना एक लोक गीत के आधार पर उचित प्रमाणित होता है। लोक गीत में अनन्तपुर के दो सौ चालीस कालरूओं का चौहार यावा का प्राचीन वर्णन है। लोक-गीत इस प्रकार है :

बारा बीहां नन्द पुरू कालरू,
सौगी हेसीम्रां रा जोड़ा हो ।
चुहारी जो जाणा म्हारेम्रा मनिया,
खालड़ूरी खर्च ता बिबड़ू रा पाणी हो ।

अर्थात् दो सौ चालीस अनन्तपुर के कालर क्षेत्र मंडी के निवासियों समेत शहनाई और वाद्यों के साथ चुहार को चल पड़ा और खाद्य सामग्री लेकर बकरे की खालों की बोरी में और पानी तुम्बियों में भर कर मोर्चे के सिपाहियों की भांति रवाना हुए । वे मनिया कौन थे इसके प्रति मण्डी क्षेत्र में अनेक विचार हैं । मनिया मण्डी इतिहास में भी प्रसिद्ध पुरुष हैं ।

कालर के अनन्तपुर गढ़ों के समीप ही एक मील के घेरे में प्रमुख गढ़ :

अनन्तपुर, समीरपुर, वख्तपुर, परतापपुर तथा नया किला प्रमुख गढ़ हैं । नया किला सिक्खों के आगमन १८४६ ई० के लगभग का बना है किन्तु ये अधूरा ही रह गया था ये गढ़ समानान्तर दुर्गम पहाड़ियों पर बने हैं । जिसके कारण आक्रमणकारी को यहां पहुंचना कठिन होता था । इनके चारों ओर बन्दूकें चलाने के लिए छेद रखे होते थे । अनन्तपुर गढ़ में भी एक आने जाने का मार्ग एक ओर ही छोड़ा गया था । अनन्तपुर में पानी की व्यवस्था के लिए बड़े-बड़े ताल भी इन गढ़ों के पास बना रखे थे, क्योंकि इस क्षेत्र में पानी का सर्वथा अभाव रहता है और वर्षा का पानी ही पीने के लिए बर्तना पड़ता है । कमलाह गढ़ तथा अनन्तपुर गढ़ बक्कर तथा सोन खड्ड के मध्य व्यास नदी से दस पन्द्रह मील लाम्बिक मार्ग में स्थित हैं । सोन खड्ड कालर के क्षेत्र से बहती है । यह सरकाघाट की पहाड़ियों से निकलती है । इसकी पनढ़र में ही मण्डी का प्राचीन जनपद कालर भी स्थित है, जिसके प्रसिद्ध दो गढ़ों के कारण और इस स्वर्ण भूमि की ख्याति से सोने में सोहागे का कार्य करती है । क्योंकि इस सोन खड्ड के रेत में सोनकण भी मिलते हैं । यह गढ़ सामरिक ख्याति के कारण ऐतिहासिक महत्व का है । राजा सूरज सैन भी इस किले को विजय करने का बड़ा इच्छुक था किन्तु यहां का राणा बहुत शक्तिशाली था । युद्ध करके उसे विजय करना कठिन कार्य प्रतीत हो रहा था । जहां बल से काम न चला वहां उसने राजनीति की छल की चाल चलाई संस्कृत कहावत भी है । 'बुद्धिर्बलम् आहु:' (बुद्धि में शक्ति बसती है) । अपने बजीर जालपू को इस कार्य के लिए छोड़ा । जालपू ने राणा अनन्तपुर की पत्नी को धर्म-बहिन बना कर उससे विश्वासघात किया । उसने झूठमूठ कहा कि उसने नरिपुरि देवी को परिवार की यात्रा करानी है । मण्डी नगर में पालकियों में सिपाही भर कर निहत्थे राणा अनन्तपुर का वध कर डाला और गढ़ को अपने अधिकार में कर लिया गया । सती होती बार रानी ने अभिशाप दिया कि जालपू ने धर्म बहिन के साथ विश्वासघात किया है । अत: उसकी सन्तान गूंगी, बहरी और लंगड़ी होगी । कहते हैं बुरे का बुरा फल । उसकी सन्तान तथा वंशज वैसे ही निकले । अनन्तपुर किले का इतिहास कमलाह गढ़ से भी पुराना प्रतीत होता है । यहां राजा अजबर सैन के काल में भी स्वतन्त्र राणा का शासन था, तथा राजा नरेणसैन ने भी इस गढ़ के राणा के साथ युद्ध किया था । इससे ज्ञात होता है कि ये प्राचीन राणा तथा गढ़पति शासक अपने जनपद में स्वतन्त्र हो कर रहते थे ।

राजा सूरमासैन के काल में १७८१ ई० कुल्लू विजय के समय अनन्तपुर के सैनिकों के डेरे पहाड़ों में लगाए थे। इससे ज्ञात होता है कि यहां के निवासी वीर शक्तिशाली शासक थे। राणा संसारचन्द ने जब १७९२ ई० में मण्डी को विजय किया तो माधोराय के सिंहासन को भी लूट कर ले गया था और अनन्तपुर का किला अपने अधीन रखा था। इससे पता लगता है कि इस किले की धाक तथा ख्याति उस काल विशेष में भी रही है। यहां के एक डांगू पहरेदार की राजा सिद्धसैन के काल की मनोरंजन कहानी प्रसिद्ध है। एक बार सिद्धसैन ने रात को आकर पहरेदार को द्वार खोलने को कहा किन्तु उसने राजा के आदेशानुसार रात को द्वार नहीं खोला। प्रातःकाल इस उपलक्ष में सिद्धसैन ने डांगू को पुरस्कार और साथ लिखित पत्र प्रदान किया, और उसके वंशजों को सदैव उसी कार्य के लिए नियुक्त करने का प्रतिज्ञा पत्र लिख दिया। वे डांगू की राजभक्ति पर अत्यन्त प्रसन्न थे। डांगू तो राजा से डर रहा था कि उसने न जाने क्या सजा दे देनी है। इस प्रकार कालर और कमलाह गढ़ क्षेत्र में इन गढ़ों के कारण आक्रमण करने वालों को कई बार समय मिल जाता था। जहां गढ़ थे वहां गढ़पति भी थे और गढ़ दुर्विजय होने से यहां के लोग कई बार स्वतन्त्र हो जाते थे। यहां की धरती शैल बलुआ चूने के पहाड़ से बनी है। यहां पानी का अभाव है और जन जीवन कठोर है। अतः राजा सूरजसैन को जिसने कमलाह गढ़ बनाया था अनन्तपुर गढ़ विजय करना कठिन और असम्भव प्रतीत हुआ था। एक बात यह भी प्रतीत होती है कि राजा सूरजसैन ने कमलाहगढ़ बनाया ही न हो, पहले का ही बना हुआ हो। इस प्रकार कालर के लोगों का आतंक आज तक अन्य क्षेत्रों में फैला हुआ है। इसी कारण तो कालर क्षेत्र के शोभाराम ने बेगार (अवैतनिक राज सेवा) तथा अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाई थी और हजारों व्यक्ति लेकर राजा को उसके कर्त्तव्य की ओर प्रेरित किया था। यहां के निवासियों को इस धरती ने अपने समान ही दृढ़ और भूख प्यास सहकर लड़ने भिड़ने के सर्वथा योग्य बना डाला है। जिससे आज भी इस क्षेत्र के लोग संघर्ष शील जीवन बिताने के अभ्यासी हैं। हिमाचल भर में यह खण्ड बंजर और चट्टानी है। लोग साहसी भोले पर परिश्रमी और आत्मनिर्भर हैं।

सिक्खों के द्वारा मंडी पर अधिकार हो जाने पर राजा बलबीरसैन ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली थी। अंग्रेज भी कमलाहगढ़ से इतने भयभीत थे कि ९ मार्च १८४६ के सन्धि पत्र में उन्होंने कमलाह गढ़ और अनन्तपुर गढ़ों को गिरा देने और कदापि न बनाने का आदेश दिया था। यह मंडी की सनद में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि दोनों गढ़ों को गिरा दिया जाये। इन दोनों गढ़ों के कारण इस क्षेत्र के लोगों को सामरिक साहस तथा युद्ध कला का अभ्यास है। कमलाहगढ़ में आज भी आषाढ़ मास में मेला लगता है। हर शनिवार को देव यात्रा और बलि अभी भी दी जाती है। आज इन गढ़ों के खण्डहर प्राचीन हजारों वर्षों की गौरव गाथा समेटे मौन मूक खड़े हैं। कमलाहगढ़ में कुछ वर्षों पूर्व तक यदा कदा विशिष्ट समारोहिक अवसरों पर तोपें चलती थीं। खड़ंग बिजली नामक तोप चलने से अनन्तपुर और कालर कमलाह क्षेत्र एक सामरिक स्थल सा प्रतीत होता था। ये गढ़ प्राचीन वास्तु-कला और भवन निर्माण कला के सुन्दर नमूने तथा युद्ध-कला के भी परिचायक हैं। इन गढ़ों की पुरानी कहानी आस पास के लोगों को मौखिक रूप में स्मरण है। सिक्खों की लूट पाट की घटनाओं का रोमांचकारी वर्णन तो और भी लोमहर्षक लगता

है। कालर के ये कमलाह और अनन्तपुर गढ़ अपने समीपस्थ दर्जनों गढ़ों के कारण सचमुच ही 'अनन्तपुर' (अन्तहीनपुर) सार्थकता द्योतक नाम है। कमलाहगढ़ का पूर्व कालीन इतिहास कमलाहिया सिद्ध से जुड़ा हुआ है। इससे इस गढ़ की प्राचीनता भी यक्ष और सिद्ध काल तक प्रमाणित होती है। अद्यविधि भी यहां सिद्ध बाबा की मान्यता तथावत प्रचलित है जो इस स्थल की प्राचीन ख्याति की परिचायक है।

राजकीय हाई स्कूल,
टीहरा, जिला मण्डी,
हिमाचल प्रदेश।

★●★

अमानवीय आत्माएं

—उमा शर्मा

भारत के अन्य प्रदेशों की तरह हिमाचल में भी भूतों का काफी प्रचलन है। हिमाचल के विभिन्न क्षेत्रों में रीति-रिवाज परम्पराएं भिन्न-भिन्न हैं लेकिन अधिकतया मिलती जुलती हैं। हिमाचल के प्राय: सभी भागों में भूतों में काफी आस्था है। कुछ लोग तो इनमें बिल्कुल विश्वास नहीं करते। उनके विचार में सिर्फ मन का भुलावा और शक है। और इसके इलावा कुछ नहीं। जैसे अंधेरे जंगल में चलते-चलते सामने खड़ा पेड़ या झाड़ी मानव आकृति का एहसास करवाती है। तो डर कर इन्सान समझता है कि भूत खड़ा है और यदि झाड़ी के आसपास जुगनु टिमटिमा रहा हो तो शक पक्का है कि भूत तो सिगरेट पी रहा है। हवा की सायं-सायं पत्तों की सरसराहट रात्रि के पक्षियों की अजीब आवाजें सब मिल कर भूत आस्तित्व की पुष्टि करते हैं।

एक बार मेरे पति सर्दी के मौसम में आफिस से घर आ रहे थे। रात काफी अंधेरी थी (हमारा घर जंगल पार करके आता है)। आगे-आगे एक टार्च वाला आदमी जा रहा था। इन्होंने सोचा कि मैं भी इसके साथ हो लूं टार्च से आसानी होगी। लेकिन जैसे यह भागते वह आदमी और तेज भागता। उसने सोचा मेरे पीछे भूत भाग रहा है। रेस चलती रही। यह उसे नहीं पकड़ पाए और हमारे पड़ोसी का घर आ गया। जब मेरे पति वहां पहुंचे तो घर के सब लोग डरे सहमे से आपस में धीमे-धीमे कुछ बोल रहे थे। जब यह पहुंचे तो पूछा भई क्या बात है। कहने लगे ओह हो आप थे? वह हमारा मेहमान तो बेहोश पड़ा है। उसने समझा मेरे पीछे कोई भूत भाग रहा है।

लेकिन दूसरी तरफ भूतों में विश्वास करने वाले दृढ़ विश्वास से अपने मत की पुष्टि में कई दलीलें रखते हैं कि 'छल' जरूर होता है। हमें कई बार भूत फलां स्थान पर मिला। कहते हैं संजोली के घने मोड़ पर एक अंग्रेज औरत बर्फ के दिनों में हर किसी से सिगरेट मांगती फिरती है *'Give me a Cigarette'* कहते हैं। ब्रिटिश राज्य में एक अंग्रेज औरत इन्हीं मोड़ों पर बर्फ में गिरने से मर गई थी।

इन भूतों की दुनियां भी अजीब होती है। इनकी कई किस्में होती हैं।

भूत :

यह आदमी भूत होता है। जमीन से लगभग दो फुट ऊंचा चलता है। उजाड़ स्थानों कब्री-स्तानों, श्मसानों में होता है कहते हैं कि जो अकाल मृत्यु से मरते हैं। उन्हीं के भूत बनते हैं। पीछे से आवाज लगाता है। यदि कोई मनुष्य सुन कर जवाब दे दे तो उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। यदि न सुने तो बच जाता है।

चुड़ैल :

यह स्त्री भूत होता है। सुन्दर भड़कीले वस्त्रों में दीखती है। इसके पैर पीठ की तरफ को होते हैं।

पहाड़िया :

अधेड़ भूत होता है। सफेद कुर्त्ता पजामा (चूड़ीदार) डाले हुक्का उठाए चादर ओढ़े, पहाड़ों की ऊंची चोटियों पर मिलता है। कहा जाता है कि जब यह मिले तो यदि इसकी चादर छीन ली जाए तो पैसे की कमी नहीं रहती। लेकिन चादर के मामले में पहाड़िया मामा काफी सतर्क रहता है। बिल्ली के गले में घण्टी कौन बांधे।

बतालू :

छोटा भूत होता है। बिचित्र आकार का होता है। कभी-कभी चार टांगें, चार बाजू, तीन आंखें या दो मुंह लगे होते हैं। कई बार कईयों के ऐसे असाधारण बच्चे पैदा हो जाते हैं तो लोगों को परेशानी में कहते सुना है कि 'मयो फलानें दे घरे तां बतालू जमी पया' मतलब अमुक व्यक्ति के यहां बतालू पैदा हो गया। यह बतालू पैदा होते ही असाधारण गतिविधियां करते हैं। या बोल पड़ेंगे या चल पड़ेंगे। परन्तु ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रहते।

झिल भूत :

यह एक प्रकार की झाड़ी का भूत माना जाता है। कांगड़ा में 'झिल' का मतलब झाड़ी होता है कई बार लोगों के कपड़े चादर वगैरा यदि नीचे लटकी हो और झाड़ी से फंस जाए तो कई लोग कहते हैं कि उसे झिल भूत ने पकड़ा है। लेकिन अब तो इसका कम बोल बाला है।

घोरी :

यह बाबा भूत होता है। साधु समान नग्न घूमता है। बच्चों को ले जाना इसका काम होता है। इसके साथ एक लंगड़ी कुत्तिया भी रहती है। कहते हैं कि मनुष्य की खोपड़ी का प्याला (*Bowl*) बनाता है और उसी में खुद भी ऊटपटांग चीजें खाता है। कुत्तिया को भी उसी में खिलाता है।

यह सब प्रकार के भूत चिपकू होते हैं। जिसे यह भूत चिपक जाए उसे पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है। जब किसी को भूत लगे तो हाथ पैर सिर (बाल खोल कर) इधर उधर पटकते हैं और न जाने क्या-क्या बकते हैं। कई आदमियों के कण्ट्रोल से बाहर हो जाता है। प्रायः देखा गया है कि यह भूत प्रेत ज्यादातर जवान औरतों को ही लगते हैं। (वह शायद इसलिए कि इसी बहाने काम से पीछा छुटा रहे।)

श्मशान घाटों, कब्रस्तानों पर कई बार चमकती सी ज्वाला दिखाई देती है। लोगों के विचार में जब कोई मर जाये तो भूत खुश हो कर नाचते हैं। यह ज्वाला उनके नाच का प्रतीक है। लेकिन वैज्ञानिकों के विचार में ऐसे स्थानों में हड्डियां होती हैं और हड्डियों में फासफोरस होता है। पानी के सम्पर्क में आने से फासफोरस में चमक आ जाती है।

ग्रीष्म ऋतु में बजुर्ग औरतों को प्रायः कहते सुना, बच्चो ! फलां जगह वट वृक्ष के नीचे नहीं जाओ। वहां 'छल' होता है। भगवान जाने यह 'छल' कहां तक सच है। 'रीडर डाईजैस्ट' में भी एक बार ज्यूस हरबर्ट का एक लेख आया था, उन्होंने भी यही कहा था "मैं स्वयं भूतों में विश्वास नहीं करता लेकिन मेरे साथ ऐसी घटना घटी कि मैं विश्वास करने हर मजबूर हो गया।" उन्होंने लिखा कि हमारे गांव में एक अकेला सा घर था। उसके लोगों का मत था कि इसमें भूत रहता है। डर के मारे वहां कोई रहना पसन्द नहीं करता था। मैं अविश्वासी तो था ही, अपना मकान वहां बदल कर लिया। रात होते ही वहां तो हंगामा सा मचने लगा—घुंघरू, गाने की आवाज। इधर उधर जा कर देखा तो कुछ नहीं। थोड़ी देर बाद ऐसा लगा जैसे मेरी किताबों की बड़ी अलमारी नीचे गिर गई है। खूब धमाका हुआ लेकिन वहां पहुंचने पर कुछ नहीं। अलमारी वैसे खड़ी थी।

चाहे कुछ भी हो भोली भाली जनता अपनी खून पसीने की कमाई 'भूत हटाने वाले डाक्टरों' की भेंट चढ़ा देती है। हमारे प्रदेश में इन डाक्टरों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नामों से पहचाना जाता है। कहीं पर इन्हें 'स्याना', कहीं पर गूगा पीर, चेला, डाऊ, पीर, बाबा, डागी प्रसिद्ध हैं। औरतें भी यह काम कुशलता से करती हैं, उन्हें 'डागी' कहा जाता है। राखी के कुछ दिन बाद डागी औरतें डगवांस या डगयाली मनाती हैं। लोगों को आम कहते सुना है कि दरवाजों पर लोहे की कोई चीज रख दो आज डगयाली है।

यह डागनियां खूब सज संवर कर उस दिन अपने इष्ट देव के स्थान (जो कंडाघाट के पास की ऊंची पहाड़ी पर स्थित है) पर जाती हैं। न जाने वहां पर क्या-क्या होता है। डगयाली के बाद यदि किसी का कोई जानवर आदि मर जाये तो यही कहा जाता है कि डागी खा गई।

यह स्याने और डाऊ लोगों की हर बिमारी का इलाज करने का दावा करते हैं। लोगों के अन्ध विश्वास की हद नहीं जब भी कुछ हुआ तुरन्त कह दिया इसे तो किसी ने कुछ किया है। डाक्टर अथवा वैद्य कुछ नहीं कर सकते। चलो डाऊ के पास।

वहां का दृश्य भी बहुत दर्दनाक होता है। कई लोग भय से कई तमाशा देखने के शौक से इकट्ठे हो जाते हैं। डाऊ कई चीजों को मिला कर धूनी बनाते हैं और फिर ग्रसत व्यक्ति को धुनी दी जाती है। और पूछा जाता है। बता तू किसका भूत है? किस ने तुझे भेजा है? क्यों आया क्या लेकर जायेगा? यदि धूनी लगने से जवाब न मिले तो संगल डंडे से उसकी पिटाई की जाती है। पिटने के बाद ग्रस्त मनुष्य का भूत बोलने लग जाता है। मैं फलां व्यक्ति का भूत हूं, फलां ने मुझे भेजा है। फिर डाऊ उससे सौदा करता है। बता कैसे जायेगा। कितना अनाज लेगा, कितना लोहा लेगा, कितना पैसा लेगा आदि आदि (शायद जो-जो चीजें डाऊ की जरूरत की हों)। भूत बोलने लग जाता है इतनी-इतनी चीजें फलां वृक्ष के नीचे गढ़ा खोद कर उसमें डाल देना और उस पेड़ में कील गाढ़ देना, मैं मनुष्य से निकल कर कील द्वारा पेड़ में प्रवेश कर जाऊंगा। आश्चर्य की बात है कि जब इतने जोर से मार पड़ती है तो चोट कैसे नहीं लगती होगी।

एक किस्सा याद आया, एक जवान औरत का। उसकी सास उसे बहुत तंग करती थी। काम अधिक लेना, खाने पहनने को ऐसे ही देती थी। वधु दुःखी थी, दुखी होकर पीर से इलाज पूछने गई। पीर ने बताया। दूसरे ही दिन वधु को दौरे पड़ने शुरू हो गये, हाथ पैर पटकना, सिर

मारना और ऊट-पटांग बातें करनी । 'स्याना' बुलाया गया । स्याने ने मन्त्र पढ़े और कुछ सोच कर बोला बहुत खतरनाक भूत है । मार पीट कर और धूनी देकर उससे बुलाया गया तो बोली कि इसके अन्दर मैं इसके बाप का भूत हूं यदि इसकी सास इस पर अत्याचार करना छोड़ दे तो मैं निकल जाऊंगा नहीं तो सास में प्रविष्ठ करके उसे तंग करूंगा। सास बेचारी डर गई और कभी उससे काम न लेने की कसम खाई और जिन चीजों की भूत ने इच्छा प्रकट की उनका दान किया ।

कई बार लोगों को कहते सुना है कि किसी ने अमुक व्यक्ति को 'ढकांदरा' लगा दिया है । यह 'ढकांदरा' क्या बला होती है ? ढकांदरा मेरे विचार से तो एक प्रकार की एलर्जी *(allergy)* होती है जो कई बार कोई चीज खा लेने से हो जाती है । इसमें रोगी का गला, मुंह, बाजु आदि में सूजन और खारिश हो जाती है । जैसे किसी जहरीली चीटियों के काटने से झाउड़ जैसे पड़ जाते हैं । ग्रस्त व्यक्ति को डाऊ के पास ले जाया जाता है जहां उसकी झाड़ फूंक शुरू हो जाती है ।

जहां यह लोग भूत प्रेत उतारने का काम करते हैं वहां किसी को चिपकाने में भी पीछे नहीं चूकते । किसी को भूत चिपका देना, किसी के घर में क्लेश डालना, पति-पत्नी में झगड़ा करवाना, भाई-भाई में अनबन करवाना आम बात है ।

कुछ परिश्रम किये बिना यह लोग काफी पैसा कमा लेते हैं । इनके मुख्य ग्राहक गांव के गरीब अनपढ़ और भोले लोग होते हैं जो वास्तविकता से अनभिज्ञ होते हैं । और अपने खून पसीने की कमाई इन ढोंगी लोगों की भेंट चढ़ा देते है ।

समय बहुत बदल चुका है । विज्ञान ने काफी उन्नति कर ली है हमें इन आधारहीन बातों को न मानते हुए अपना ध्यान काम की तरफ लगाना चाहिए । और समाज के इन ढोंगी तत्वों को निकालना होगा ।

इसके लिए युवावर्ग को अपना दृष्टिकोण बदलना होगा तभी इनके चुंगल से छुटकारा मिल सकेगा । बिमारियों के इलाज के लिए सरकार ने सरकारी हस्पताल खोले हैं । जहां पर योग्य चिकित्सक विद्यमान है । डाऊ चेले से इनका इलाज न करवाकर डाक्टरों के पास जाना चाहिए । ताकि गरीबों की मेहनत की कमाई समाज के इस वर्ग के हाथ में जाने से बच जाए ।

मैंने कई लोग ऐसे देखे हैं जो इन चेलों के चक्कर में पड़ कर बिल्कुल खाली हो चुके हैं लुट चुके हैं । न तो बिमारी का इलाल हुआ न भूत गया । कमजोरी जोर पकड़ती गई फिर वही बात हो गई धोबी का कुत्ता घर का न घाट का । न इधर के रहे न उधर के ।

डोगरा लॉज
शिमला (हिमाचल प्रदेश

★●★

अकादमी की गतिविधियां

संगीत, नाटक एवम् नृत्य के क्षेत्र में आयोजित कार्यक्रम

हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी के तत्वावधान में मास अप्रैल, १९८० से जून, १९८० तक निम्नलिखित कार्यक्रम आयोजित किए गए :

दिल्ली में सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा कवि सम्मेलन :

हिमाचल कल्याण सभा, दिल्ली के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिनांक ६ अप्रैल, १९८० को एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में लोक-संगीत एवं गीतों का प्रमुख स्थान रहा। यह कार्यक्रम लगभग डेढ़ घण्टे के समय का था। कलाकारों में सर्वश्री ज्वालाप्रसाद शर्मा, इन्द्रपाल, आर०के० कपिल तथा कुमारी कृष्णा कपूर थे। प्रदेश के लोक-गीतों को सुन कर दिल्ली में कार्यरत हिमाचल वासियों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। इस कार्यक्रम के कुछ अंश दूरदर्शन केन्द्र दिल्ली द्वारा फिल्मीकृत तथा रिकार्ड किए गए।

उसी सायंकाल हिमाचल प्रदेश के कवियों का एक कवि-सम्मेलन अकादमी के तत्वावधान में किया गया जिसमें हिन्दी तथा पहाड़ी भाषा में कविता पाठ किया गया। इस कवि-सम्मेलन में डा० पीयूष गुलेरी, श्री ओंकारलाल भारद्वाज, श्री नरेन्द्र अरुण, श्री हंसराज, श्री मनोहर सागर पालमपुरी, श्री भगतराम मुसाफिर और श्री अश्विनी गर्ग ने भाग लिया। यह सम्मेलन लगभग डेढ़ घण्टे की अवधि का था। कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता प्रो० एन० सी० पराशर माननीय संसद सदस्य एवं उपाध्यक्ष हिमाचल कला, एवं भाषा अकादमी ने की तथा संचालन पहाड़ी भाषा के प्रसिद्ध कवि डा० पीयूष गुलेरी ने किया।

हिमाचल भवन में सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन :

मई मास के प्रथम सप्ताह में हिमाचल भवन मे एक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इस कार्यक्रम की अवधि लगभग दो घण्टे की थी। लोक-संगीत, गीतों एवं नृत्यों का इस कार्यक्रम में प्रमुख स्थान रहा। इस अवसर पर माननीय राज्यपाल महोदय तथा मन्त्रीगण उपस्थित थे। कलाकारों में सर्वश्री प्रेमप्रकाश निहालटा, सीताराम पथिक, विजय छाबड़ा, घनीराम, भूपसिंह, माधो परमार, शंकरलाल, डी०पी० खोशहाल, कु० ममता, इन्दू, आशा, नीरू गुप्ता, अनिता तथा श्रीमती शान्ति विष्ट थे। कार्यक्रम की तैयारी श्री अशोक हंस ने करवाई।

चम्बा में सांस्कृतिक कार्यक्रम :

दिनांक २३ मई, १९८० को अकादमी के तत्वावधान में चम्बा के चौगान मैदान में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में राजकीय महाविद्यालय चम्बा के

कलाकरों, राजकीय कन्या उच्चतर माध्यमिक पाठशाला, चम्बा की छात्राओं, राजकीय उच्चतर माध्यमिक पाठशाला, चम्बा के छात्र-छात्राओं तथा साहू पार्टी ने भी अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किए। अकादमी द्वारा मास नवम्बर-दिसम्बर, १९७९ की लोक-नाट्य एवं नृत्य कार्यशाला के दौरान तैयार किया नाटक 'सूही माता—चम्बयाली' रानी के कुछ दृश्य भी प्रस्तुत किए गए। चम्बा की लोक-गाथा रानी सूही के बलिदान पर आधारित इस नाटक की कथा इस प्रकार से है कि जब भरमौर के राजा साहिल वर्मन ने आसपास के छोटे-छोटे राणाओं को जीत कर चम्बा को अपनी राजधानी बनाया। चम्बा में लोग बसने लगे। उन दिनों नगर में पीने के पानी की कमी थी। लोग दूर-दूर से पानी लाते थे। राजा और प्रजा पानी की कठिनाई से परेशान थी। तभी एक रात राजा साहिल वर्मन की रानी नयनादेवी को स्वप्न आया जिसमें कूल्ह की देवी ने राज दरबार में से राजा, राजपुत्र व रानी में से किसी एक की बलि देने को कहा। इस तरह रानी ने प्रजा के लिए तथा शहर में पानी लाने के लिए स्वयं को जीवित चुनवाया। रानी नयनादेवी सूही माता व देवी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

नाटक 'सूही माता—चम्बयाली रानी' के गीतों और नृत्यों वाले दृश्य लेकर तथा उसे कमैण्टरी के साथ ताल-मेल कर *tableaux form* में दिनांक २३ मई, १९८० के कार्यक्रम में प्रस्तुत किया। इस नाटक का आलेख श्री खेमराज गुप्त 'सागर' ने लिखा तथा निर्देशन श्री अशोक हंस ने किया। कार्यक्रम का संचालन डा० बंशीराम शर्मा ने किया। चम्बा के जिलाधीश श्री टी०आर० शर्मा इस उत्सव के मुख्य अतिथि थे। कलाकारों में सर्वश्री कृष्णचन्द, पीयूष राज, रमेश भारद्वाज, उत्तमकुमार, टी०आर० कमल, जगदीश, किशोर, सतीश कैला, कु० सुनीला जसरोटिया, अनिला जसरोटिया, भवन, दिनेश, विमला ठाकुर, ललिता जसरोटिया और चम्पा थे।

इस अवसर पर माननीय शिक्षा मन्त्री एवं अध्यक्ष, हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी श्री शिवकुमार उपमन्यु द्वारा स्वैच्छिक निधि से स्थानीय महाविद्यालय तथा कार्यक्रम में भाग लेने वाली शैक्षणिक संस्थाओं को कुल २०००/-रु० की राशि सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर व्यय करने के लिए दी गई।

लोक-गीतों का प्रलेखन :

'लोक-गीतों का प्रलेखन कार्य' योजना के अन्तर्गत दिनांक २४ और २५ मई, १९८० को चम्बा के ३२ लोक-गीतों की रिकार्डिंग की गई। इन गीतों में ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, भावात्मक सभी प्रकार के गीत हैं। मुख्य रूप से चम्बा के लोक कलाकार श्री कृष्णचन्द द्वारा यह गीत गाए गए। गायन में अन्य सहयोगी श्री उत्तमकुमार, सतीश कैला, पूर्ण तथा पीयूष राज थे। इन लोक-गीतों का आलेख तैयार कर लिया गया है।

नाट्य परिचर्चा :

हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा 'नाट्य परिचर्चा' के अन्तर्गत 'आधुनिक समय में लोक रंगमंच को महत्ता' विषय पर दिनांक ८ जून १९८० प्रातः ग्यारह बजे शिमला के स्थानीय गेयटी थियेटर-रंगशाला में एक परिचर्चा का आयोजन किया गया। इस विषय के प्रस्तावक

प्रो० रामगोपाल बजाज थे। प्रो० रामगोपाल बजाज राष्ट्रीय स्तर के रंगमंच क्षेत्र के प्रसिद्ध अभिनेता एवं निर्देशक हैं। प्रो० बजाज राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली में अभिनय के प्राध्यापक हैं तथा आजकल नाट्य कला विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला में विभागाध्यक्ष पद पर प्रतिनियुक्त हैं।

इस नाट्य परिचर्चा में लगभग ४० कलाकारों ने भाग लिया। मंच का संचालन श्री अशोक हंस ने किया। इस कार्य-क्रम की अध्यक्षता, सम्पादक गिरिराज, श्री सत्येन शर्मा ने की। सचिव अकादमी श्री एम० आर० ठाकुर जी ने कलाकारों, विषय के प्रस्तावक एवं कार्य-क्रम के अध्यक्ष का स्वागत किया। अपने स्वागत भाषण में श्री ठाकुर जी ने अकादमी द्वारा तैयार लोक नाटकों 'हिन्ना-डण्डुव-लाटी-शेरजंग, पखाड़ा झांखो अजबा, सुन्नी भुंकू एवं सूही माता-चम्बयाली रानी' पर प्रकाश डाला।

श्री अशोक हंस ने आधुनिक समय में लोक रंगमंच की महता विषय का परिचय देते हुए कहा कि आधुनिक समय में लोक नाट्य शैली द्वारा किए नाटकों में नाट्य कला की तकनीकों का काफी प्रयोग हो रहा है। तथा प्रो० बजाज से रंगमंच की विभिन्न शैलियों का आधुनिक समय के लोक नाटकों में प्रयोग हो रहा है या नहीं पर प्रकाश डालने को कहा।

प्रो० रामगोपाल बजाज ने अपने विचार लोक कलाओं से आरम्भ किए उन्होंने बताया कि लोक कलाओं का आध्यात्मिक शक्तियों से काफी गहरा सम्बन्ध है। आधुनिक समय में हो रहे रंगमंच के क्षेत्र में प्रकाश डालते हुए प्रो० बजाज ने बतलाया कि आधुनिक रंगमंच काफी विस्तार से फैला हुआ है। एक बिन्दू लें उसे दूसरे से मिलाएं, तीसरे से मिलाएं या एक छोटा वृत लें, बड़ा लें, उसे और बड़ा करें उसके केन्द्र से एक लाइन खींचें, इस तरह जितना मर्जी बिस्तार करते जाएं। इस लाइन की अपनी कोई चौड़ाई व ऊंचाई नहीं है। उनका तात्पर्य था रंगमंच अपने ही केन्द्र में काफी फैला हुआ है।

पिछले कई वर्षों से भारतवर्ष में हो रहे नाटकों पर प्रकाश डालते हुए प्रो० बजाज ने कहा कि पश्चिम में अगर कोई नाटक अच्छा हुआ तो उसे सफल तरीके से कर लेना हम अच्छा समझते थे। उस समय पश्चिमी नाटक पश्चिमी भाषा में कर लेना ही उद्देश्य रहा है। इस तरह कुछ लोग एक दूसरे को शाबाशी देते थे। उसके पश्चात् पश्चिमी नाटक भारतीय भाषा में अनुदित होकर होने लगे। उसके पश्चात मोटे रूप में देखा जाए तो पश्चिमी नाटक रूपान्तरित होकर होने लगे। इन नाटकों का सारा स्वरूप पश्चिमी था परन्तु इनका रुपान्तरित अंश चरित्रों, भाषा तथा कथानकों में मूलतः भारतीय था। उसके पश्चात् विभिन्न भाषाओं में नाटक लिखे गए। स्वरूप और शैली में यह नाटक भारतीय नहीं बल्कि पश्चिमी थे, परन्तु उस विषय को भी प्रभावित करते थे। उसके पश्चात भारतीय नाटक पश्चिमी शैली में खेले जाने लगे। अपने गुरू श्री अलकाज़ी, जो राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के विभागाध्यक्ष रहे तथा रंगमंच के क्षेत्र में अन्तर्राजीय स्तर के प्रसिद्ध निर्देशक हैं, के नाटक के बारे में बतलाते हुए कहा कि जब गुरू अलकाजी ने अन्धायुग पहली बार किया, जिसकी प्रस्तुती काफी अच्छी रही, तब अन्धा युग नाटक उजागर होकर सामने आया। इससे यह बात उजागर होकर सामने आई कि हिन्दू कलम में क्या ताकत है परन्तु इस नाटक की प्रस्तुती में भारतीय परम्परा/शैलियों के तत्वों के साथ यूनानी तत्व भी हैं। जहां तक वेश-भूषा का प्रश्न है, लोगों ने आलोचना की कि पात्र यूनानी लगते थे। महाभारत वाले पात्र नहीं। उसके बाद गुरु अलकाजी

ने पुराना किला में अन्धायुग किया । उन दिनों अलकाजी साहब जापान होकर आए थे, उन्होंने तब जापानी/काबुकी शैली में उस नाटक की प्रस्तुती की । हिन्दुस्तानी पात्र गन्धारी को काबुकी-मुखोटे जैसी रूप-सज्जा की गई ।

प्रो० बजाज ने इन नाटकों का उदाहरण देते हुए कहा कि "मैं प्रस्तुती की टिप्पणी नहीं कर रहा, मैं मात्र उस वृति को देख रहा हूं जो काम कर रही है ।" उसके बाद वर्तमान निदेशक एवं विभागाध्यक्ष, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय श्री बाबा कारन्थ द्वारा निर्देशित नाटकों का उदाहरण देते हुए कहा कि यह आधुनिक समय में नाटकों को लोक शैली में रूपान्तरित कर रहे हैं । भोपाल में शेक्सपीयर के नाटक किंग लियर 'पटियाला जा तीन बेटिया' के नाम से यक्षागण शैली में किया जिसकी प्रस्तुती बहुत ही सुन्दर रही । पश्चिमी नाटकों को लोक शैली में किया गया ।

गुजराती/भवाई शैली में लिखा नाटक 'जसमा ओडन' से रंगमंच के क्षेत्र में काफी प्रभाव पड़ा । लोक कथा एवं गुजराती की लोक धुनें लेकर भवाई शैली में यह नाटक लिखा गया जिसके कई सफलपूर्वक मंचन विभिन्न निर्देशकों द्वारा किए गए ।

प्रो० बजाज ने 'इज्म' के संदर्भ में प्रश्न पूछने पर कहा कि जिस तरह से एक नाम व्यक्ति की परिभाषा नहीं दे सकता उसी तरह से एक वर्गीकरण करके एक अंश की पहचान करवा रहा है, उसे परिभाषित कर रहा है । कोई आन्दोलन एक वर्गीकरण के साथ बंट जाए ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि मानव जीवन समग्र है । खण्डित व वर्ग्रीकरण हम अपनी सुविधा के लिए करते हैं । ज्योमैट्री में लम्बाई का उदाहरण देते हुए कहा कि जिसकी लम्बाई है पर चौड़ाई व मोटाई नहीं । यह एक 'कानसैंटर' है तथा इसके इर्द-गिर्द लम्बाई की परिभाषा मिल जाती है । लोक नाट्य शैली से 'एक्सप्रैसनिज्म' का सम्बन्ध है या नहीं के सन्दर्भ में बतलाया कि यह एक विरीफ शैली है । इसकी आतंकता एक क्षेत्र में होगी । न्यूनता दूसरे क्षेत्र में । यदि एक कुर्ते को कुर्ता नहीं कहेंगे तो-कमीज नुमा कुर्ता कहेंगे ।

विभिन्न शैलियां विभिन्न समय में अपनी ही तरह से उभरती हैं ।

कार्य-क्रम के अध्यक्ष श्री सत्येन शर्मा ने अपने भाषण में प्रो० बजाज के विचारों की प्रशसा करते हुए, उससे निष्कर्ष निकाल तथा 'आधुनिक' शब्द से मैथलीशरण गुप्त की एक पंक्ति दोहराई :—

"हम क्या थे, क्या हो गए और कहां होंगे ।" लोक रंगमंच विभिन्न शैलियों या तकनीकी से आधुनिक समय में करें तो गांव के लोगों को स्वीकार नहीं होगा, परन्तु ऐसा धीरे-धीरे प्रयोग करना आवश्गक हैं । उन्होंने पारसी शैली में लिखे नाटकों का उदाहरण देते हुए कहा कि यह नाटक अब भी उतने ही अच्छे लगते हैं जितने कि पहले, चाहे पहले से अधिक अच्छे न लगते हों, कहने का अभिप्राय कि हर आदमी का अपना-अपना अन्दाज होता है, अत: अगर रंगमंच में सम्प्रेषनता नहीं है तो निरर्थक है ।

अन्त में अकादमी के अनुसन्धान अधिकारी डा० बंशीराम शर्मा ने सभी का धन्यवाद करते हुए प्रो० बजाज, विभागाध्यक्ष, नाट्य कला विभाग से निवेदन किया कि अगर आपस में हम नाटक की प्रस्तुती का आदान-प्रदान करते रहें तो हिमाचल प्रदेश के कलाकारों द्वारा तैयार नाटक भी

कइयों को देखने का अवसर प्रदान होगा, जिससे हिमाचल प्रदेश की लोक नाट्य शैलियों का भी प्रचार एवं प्रसार होगा।

तकनीकी सहायता :

अकादमी द्वारा निम्नलिखित संस्थाओं को तकनीकी सहायता दी गई :

१.	तारा हाल स्कूल, शिमला	...	वेश-भूषा के रूप में सहयोग।
२.	पोर्ट मोर स्कूल, शिमला	...	वेश-भूषा के रूप में सहयोग।
३.	हैपी चाइल्ड स्कूल, शिमला	...	वेश-भूषा के रूप में सहयोग।
४.	नाट्य कला विभाग, पंजाबी-विश्वविद्यालय, पटियाला		शिमला में कार्यक्रम आयोजित करने के लिए वाद्य-यन्त्र के रूप में सहयोग।
५.	हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,		वेश-भूषा, वाद्य एवं प्रकाश यन्त्रों के रूप में सहयोग।
६.	परिधि, शिमला	...	नाटक के मंचन के लिए प्रकाश यन्त्रों के रूप में सहयोग।

—अशोक हंस

पुस्तक-समीक्षा

शोध ग्रन्थ : जायसी पूर्व रचित हिन्दी प्रेमाख्यान, (प्रथम खण्ड)
शोध कर्ता : डा० सुशील कुमार फुल्ल
प्रकाशक : जयश्री प्रिंटर्ज पब्लिशर्ज १०६/४, लोअर बाजार, शिमला ।
मूल्य : दस रुपये मात्र ।

साहित्येतिहास परम्परा में प्रेमाख्यान, रोमांस, मसनवी आदि शब्दों को समानार्थी मान लिया गया है । इससे कतिपय भ्रांतियों ने सूफी प्रेमाख्यान, इतिहास और परम्परा समझने में असंगत वाद-विवाद खड़ा कर दिया है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए डा० सुशील कुमार फुल्ल ने परम्परागत मान्यताओं का विश्लेषण करते हुए तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा 'जायसी पूर्व रचित हिन्दी प्रेमाख्यान' के प्रथम खण्ड 'प्रेमाख्यान स्वरूप विवेचन में साहित्य सिद्धांत शब्दों सम्बन्धी नये निष्कर्ष प्राप्त किए हैं तथा नयी परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं ।

प्रथम खण्ड, चार अध्याओं में आवांटित है : प्रेम-अर्थ एवं परिभाषा, आख्यान व्युत्पत्ति एवं अर्थ, प्रेमाख्यान एवं कथा, रोमांस मसनवी, रोमांस आदि तथा कथा मसनवी एवं रोमांस निष्कर्ष इत्यादि।

प्रेम, आख्यान, कथा, मसनवी रोमांस आदि की साहित्य सिद्धांत के आधार पर पाश्चात्य पौर्वात्य शब्दों की परिभाषाएं दी गई हैं जो कि नई समझ और परम्परा को समझाने में नये आयाम ग्रहण किए हुए है। प्रेम की उत्पत्ति एवं अर्थ, परिभाषा, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रेम और सौंदर्य की मीमांसा प्रथम अध्याय में है । आख्यान, और प्रेमाख्यान, आख्यान और आख्यायिका भेद वर्णन, कथा और मसनवी शैली, कथा विभाजन तथा परिभाषाएं दूसरे और तीसरे अध्याय में हैं । रोमांस की परिभाषाओं को भी पाश्चात्य प्रमाणों के आधार पर यहीं आलोचित किया गया है। चौथे अध्याय में कथा मसनवी एवं-रोमांस के निष्कर्ष की मीमांसा की गई है ।

प्रेमाख्यान काव्यों को प्राय: सूफी-धर्म के प्रचारक ग्रन्थ माना जाता है, ऐसा इसलिए क्योंकि हर मसनवी को प्रेमाख्यान समझा जाता है जबकि वस्तुत: ऐसा नहीं होता इस दिशा में प्रस्तुत पुस्तक परम्परागत भ्रांतियों का निराकरण करती है । जायसी पूर्व रचित हिन्दी प्रेमाख्यान शोध-ग्रन्थ के द्वितीय एवं तृतीय खण्ड प्रकाशित होने से हिन्दी प्रेमाख्यान परम्परा पर समग्र रूप से प्रकाश पड़ेगा ऐसा विश्वास है ।

समीक्षक : अश्विनी अवस्थी
ग्राम व डाकघर सुलह
तहसील पालमपुर,
जिला कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)

हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी

परी महल, शिमला-६

साहित्यकारों की 'सम्मान योजना' के नियम–उपनियम

१. इस योजना के अन्तर्गत वर्ष १९८० में जून मास में विभिन्न समाचार पत्रों, पत्रिकाओं में प्रथम बार ये विज्ञापन प्रकाशित किया जाएगा। जिस के द्वारा ३१ जनवरी, १९८९ तक 'सम्मान योजना' के अन्तर्गत प्रविष्टियां आमन्त्रित की जायेंगी। इस वर्ष पुरस्कार के लिए सम्बन्धित विषयों की प्रथम नवम्बर, १९६६ से दिसम्बर १९८० तक की अवधि में प्रकाशित पुस्तकें स्वीकृत की जायेंगी। इसके पश्चात् प्रति वर्ष जून मास में इस आशय का विज्ञापन दिया जायेगा तथा ३० नवम्बर तक प्रविष्टियां आमन्त्रित की जायेंगी। अगले वर्षों में गत दो वर्षों की अवधि में प्रकाशित पुस्तकों को इस योजना के अन्तर्गत विचारार्थ स्वीकृत किया जायेगा।

२. निधारित तिथि तक प्रकाशित पुस्तकों की चार प्रतियां हिमाचल कला–संस्कृति–भाषा अकादमी के कार्यालय में पहुंच जानी चाहिए। अन्तिम तिथि के पश्चात् प्रतियों की प्राप्ति की दशा में उन पर निर्णय लिया जाना सम्भव नहीं होगा।

३. इस योजना के अन्तर्गत सम्मान प्राप्ति हेतु साहित्यकार स्वयं अथवा पुस्तकों के प्रकाशक, अथवा कोई अन्य व्यक्ति अपनी प्रविष्टियां भेज सकते हैं तथा एक लेखक एक से अधिक ग्रन्थ भी विचारार्थ प्रस्तुत कर सकते हैं।

४. एक साहित्यकार को एक ही वर्ग में पुरस्कृत किया जाएगा तथा एक बार सम्मानित हो जाने पर पांच वर्ष की अवधि में पुनः पुरस्कृत नहीं किया जायेगा।

५. प्रत्येक विचारार्थ प्रस्तुत की जाने वाली पुस्तक के भीतरी पृष्ठ पर एक टंकित पत्र चिपकाया जाना आवश्यक होगा, जिस पर निम्न विवरण अंकित रहना चाहिए :

क) प्रतियोगिता का नाम व वर्ष :
ख) पुस्तक का शीर्षक व विषय :
ग) लेखक का नाम व पूरा पता :
घ) पुस्तक के प्रकाशन का वर्ष :
ङ) प्रकाशक का नाम व पता :
च) पुस्तक का मूल्य :
छ) पृष्ठ संख्या :
ज) पुस्तक के सम्बन्ध में कोई अन्य विवरण जो उल्लेखनीय हो :

६ क) पुरस्कार के लिए निम्नलिखित विषय निर्धारित है :

सर्जनात्मक साहित्य, कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक शोध, समीक्षा, हास्य व्यंग्य लेखन ।	प्रथम पुरस्कार रुपये ११००/-
लोक-वार्ता, निबन्ध, रिपोर्ताज, यात्रा विवरण आदि ।	द्वितीय पुरस्कार रुपये ७००/-

ख) पुरस्कार की राशियां हिन्दी, उर्दू, पहाड़ी तथा संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थों पर पुरस्कारों के लिए समान होंगी अर्थात् प्रथम पुरस्कार ११००/- रुपये तथा द्वितीय पुरस्कार ७००/- रुपये मात्र ।

ग) यह यत्न रहेगा कि जिस विधा की पुस्तक के लिए एक वर्ष में पुरस्कार दिया जाये उस विधा पर अगले वर्ष पुरस्कार न दिया जाये । यद्यपि इस नियम का कठोरता से पालन सम्भव नहीं है परन्तु साहित्य रचना की विविधता के विचार से इसे ध्यान में रखा जायेगा ।

७. किसी भी प्रतियोगियता में विद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों पर आधारित पाठ्य पुस्तकों अथवा उनसे सम्बन्धित सहायक सामग्री पर पुरस्कार हेतु विचार नहीं किया जायेगा ।

८. पुरस्कार हेतु विचारार्थ प्राप्त पुस्तकें पुरस्कार प्राप्त न होने की दशा में वापिस की जायेंगी ।

९. पुस्तकें शिमला रेलवे स्टेशन, डाकघर कुसुम्पटी, शिमला–९ अथवा व्यक्तिगत रूप से सचिव, हिमचल कला–संस्कृति एवं भाषा अकादमी, शिमला-९ के नाम से प्रस्तुत की जायेंगी ।

१०. पुस्तकों के पैकेट पर ऊपर 'पुरस्कार योजना के अन्तर्गत' शब्द अंकित किया जाना चाहिए ।

११. इस योजना के अन्तर्गत सम्मान पात्रता के सम्बन्ध में आवश्यक है कि :

क) साहित्यकार/कलाकार जन्म से और सामान्यत: हिमाचल प्रदेश का निवासी हो,

अथवा

ख) हिमाचल प्रदेश सरकार अथवा प्रदेश के किसी स्वायत निकाय में सेवारत हो,

अथवा

ग) हिमाचल प्रदेश राज्य-कोष से पेन्शन प्राप्त करता हो,

अथवा

घ) पिछले दस वर्षों से निरन्तर हिमाचल प्रदेश में रह कर साहित्य अथवा कला की सेवा कर रहा हो ।

१२. इस योजना के अन्तर्गत हिमाचली लेखकों अथवा हिमाचल प्रदेश से सम्बन्धित किसी विषय के लेखकों की कृतियां विचारार्थ न प्राप्त होने पर भी सम्मान हेतु विचार किया जा सकता है । उस दशा में अकादमी निम्नलिखित ढ़ंग से पुस्तक का चयन करेगी :

क) सम्बन्धित विषय के अधिकारी तथा सम्मानित साहित्यकार, विचारकों, आलोचकों तथा विद्वानों को इस अवधि में प्रकाशित सम्मान योग्य ग्रन्थों की सूची प्रस्तावित करने की प्रार्थना की जायेगी ।

ख) इस प्रकार प्राप्त हुए संस्तुतियों की सूची बना कर प्रस्तावित करने वाले विद्वानों को वरीयता क्रम से पांच पुस्तकें पुरस्कार हेतु चयन करने के लिए कहा जायेगा ।

ग) इस क्रम के अन्तर्गत प्राप्त पुस्तकों की एक-एक प्रति इस कार्य हेतु नियुक्त की गई विशेषज्ञ उपसमिति के तीन सदस्यों को अपनी राय देने के लिए भेजी जायेगी ।

घ) ऊपर वर्णित (ख) तथा (ग) के अन्तर्गत प्राप्त रिपर्टों को अधिशासी निकाय की बैठक में परिणामों की घोषणा पर निर्णय लेने के लिए प्रस्तुत किया जायेगा ।

१३. यदि संस्तुतियों के आधार पर किसी भी ग्रन्थ को सम्मानित करने के योग्य न पाया गया तो पुरस्कार नहीं दिया जायेया ।

१४. सम्बद्ध वर्गों में स्तर, शोध, लोक-साहित्य, आलोचना तथा विशिष्टता का आधार विवेच्य ग्रन्थ के सन्दर्भ में ही देखा-परखा जायेगा । और उसी पुस्तक को दृष्टिगत रखते हुए पुरस्कार का निर्णय लिया जायेगा । इस सम्बन्ध में साहित्यकार/कलाकार की सम्पूर्ण उपलब्धियां भी गौण रूप से दृष्टिपथ में रहेंगी परन्तु वे निर्णय में न तो सहायक होंगी न ही बाधक ।

१५. जहां एक से अधिक पुस्तकें पुरस्कार योग्य मानी जाएं वहां निर्णय करने की दशा में साहित्यकार/कलाकार की समस्त उपलब्धियों को ध्यान में रखा जायेगा तथा उत्कृष्टतर उपलब्धियों वाले साहित्यकार को पुरस्कृत किया जायेगा ।

१६. अनुवाद कार्य पर पुरस्कार नहीं दिया जायेगा ।

१७. खण्डों में प्रकाशित पुस्तक जो अधूरी जंचती हो, पर पुरस्कार नहीं दिया जायेगा परन्तु यदि एक खण्ड अपने में समग्र विवेचित विषय को समेटे हुए हो तो पुरस्कार के लिए परखी जा सकती है । पूर्व प्रकाशित लेखों/रचनाओं के संग्रह अथवा पुस्तक के संशोधित संस्करणों पर पुरस्कार की व्यवस्था नहीं होगी ।

१८. विश्वविद्यालय की डिग्री हेतु लिखे गए शोध-गन्थों के लिए यह योजना लागू नहीं होगी ।

१९. कोई भी पुस्तक जिस के सम्बन्ध में यह निश्चित हो जाये कि उसके पक्ष में साहित्यकार/कलाकार अथवा उसके किसी प्रतिनिधि ने सिफारिश की है, पुरस्कार के लिए आयोग्य मानी जायेगी ।

२०. दो प्रतियोग्य पुस्तकों पर निर्णय के अनुसार पुरस्कार की राशि समान रूप से भी वितरित की जा सकती है ।

२१. पुस्तकें किसी भी आकार व टाईप में प्रस्तुत की जा सकती हैं परन्तु अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार नहीं दिया जायेगा ।

२२. प्राप्त पुस्तकों के सम्बन्ध में निर्णय की घोषणा से पूर्व कोई पत्र व्यवहार सम्भव नहीं होगा ।

२३. अकादमी के अधिशासी निकाय का निर्णय अन्तिम माना जायेगा और उस पर कोई पत्र व्यवहार नहीं होगा । उस पर कोई कानूनी कार्यवाही भी सम्भव नहीं होगी ।

२४. प्रकाशकों द्वारा भेजी गई पुस्तकों के लिए लेखकों की सहमति प्राप्त करने का दायित्व उनका होगा।

२५. पुरस्कार के लिए वर्जित अवधि में यदि किसी साहित्यकार/कलाकार की कृति पुरस्कार के योग्य मानी जाए तो उसे केवल सम्मान पत्र दिया जायेगा तथा पुरस्कार की राशि नहीं दी जायेगी।

२६. यदि किसी पुरस्कृत पुस्तक के सम्बन्ध में बाद में पता चलता है कि पुस्तक सम्बन्धित साहित्यार की अपनी रचना नहीं है, तो उस स्थिति से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक परिणाम का दायित्व उस पुस्तक के लेखक का होगा, अकादमी का नहीं। अकादमी को यह अधिकार होगा कि उस स्थिति में पुरस्कार की राशि वापिस वसूल कर ले।

सचिव
हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी
पीच ब्लाउम कॉटेज, शिमला–२.

★●★

साहित्यकार/कलाकार विवरणिका

हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी

पीच ब्लाज्म काटेज, शिमला–२

हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा प्रदेश के कलाकारों/लेखकों के परिचय की एक विवरणिका प्रकाशित की जा रही है। जिन कलाकारों या लेखकों ने अकादमी को अभी तक अपना साहित्यिक परिचय नहीं भेजा है वे निम्न सूचनाओं के अनुसार अपना परिचय अकादमी को यथा शीघ्र भेजें।

—सम्पादक

1. लेखख/कलाकार का पूरा नाम :
2. पिता का नाम :
3. स्थायी पता :
4. पत्र व्यवहार का पता :
5. जन्म तिथि तथा वर्ष :
6. शिक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण :—
7. व्यवसाय सम्बन्धी विवरण :
8. भाषा/कविता/चित्र-कला/सगीत–कला/नाट्य–कला/लिखन–कला/मूर्ति–कला/लोक–साहित्य/संस्कृति वास्तु-कला/रेडियो-कलाकार/साहित्य/भवन निर्माण-कला आदि के क्षेत्र में किये गए कार्यों का पूर्ण विवरण :

    (क) भाषाओं (पहाड़ी तथा उसकी उपभाषाओं, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, पंजाबी आदि) के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

    (ख) कविता के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :
    (जिन पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं छपी हैं उनके पूर्ण सन्दर्भ दीजिए)

    (ग) चित्र-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

    (घ) संगीत-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

    (ङ) नाट्य-कला के क्षेत्र में किए गये कार्य का विवरण :

    (च) लेखन-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

        1. मौलिक लेखन :

        2. संग्रह अथवा अनुवाद :

(छ) मूर्ति-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

1. क्षेत्र जहां कार्य किया :

2. किये गए कार्य का पूर्ण विवरण :

9. लोक-साहित्य के क्षेत्र में किए गये कार्य का विवरण :

10. संस्कृति के क्षेत्र में किए गए कार्य का पूर्ण विवरण :

11. वास्तु-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का पूर्ण विवरण :

12. रेडियो कलाकार के रूप में किए गए कार्य का विवरण :

13. साहित्य के क्षेत्र में योगदान का पुर्ण विवरण :

14. भवन-निर्माण-कला के क्षेत्र में किए गए कार्य का विवरण :

15. कला, संस्कृति, भाषा अथवा साहित्य के किसी अन्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान का विवरण :

16. अन्य विशेष विवरण जो ऊपर न दिया जा सका हो :

तिथि................

हस्ताक्षर साहित्यकार/कलाकार

यदि संम्भव हो तो रचनाओं की प्रतियां भी अकादमी के कार्यालय को सूचनार्थ भेजने का कष्ट करें।

★●★

H.A.A.C.L. आर०एन० 28271/75

1. निदेशक, शिक्षा विभाग, हि०प्र० द्वारा पत्राङ्क ई डी ऐन-एच (8)-6(3)1/75, 24 फरवरी, 1975 के अनुसार प्रदेश के समस्त कालेजों, पाठशालाओं व जिला पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

2. प्रदेश की समस्त पंचायतों के लिए निदेशक, पंचायती राज विभाग, हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा स्वीकृत।

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परी महल, शिमला-9 द्वारा प्रसारित तथा **'नवीन प्रिंटिंग प्रेस'**, जिला बिलासपुर (हिमाचल प्रदेश) द्वारा मुद्रित।

tharahkardu.in